परा–व्यक्तिगत उर्जा

धम्मचारी सुभूति

यह लेख, संघरक्षित की वाक्संप्रदाय शैली में 'शिक्षाओं के एक चक्र को पूरा करता है', जो शुरू हुआ 'धम्म पर श्रद्धा तथा विश्वास' के साथ, फिर आगे बढ़ा 'बुद्ध की पुनः कल्पना' की ओर तथा आगे 'नव–जीवन का प्रारंभ' तक। इस में से हर एक लेख का यह प्रयास रहा है कि वह संघरक्षित के इस वक्तव्य से निकाले जा सकने वाले अनुमान को पूर्णत्व का स्परुप प्रदान कर सकें, जो उन्होनें 'पाश्चिमात्य बौद्ध महासंघ क्या है ?'[1] में किया था, कि संघ उनके शिष्यों का तथा उनके शिष्यों के शिष्यों का ऐसा समुदाय है जो 'धम्म के उनके विशिष्ट सादरीकरण' के अनुसार आचरण कर रहें है। अन्य लेखों की तरह ही यह प्रबंध भी मेरी उनके साथ हुई चर्चाओं में से उभर कर आया है और उनकी पाँच नियमों की समझ का अनुसंधान कर रहा है, तथा उन्हीं के अनुमोदन से इसे प्रकाशित किया जा रहा है। प्रस्तुत निबंध के अनुसंधान का विषय है संघरक्षित के स्वयं के जीवन एवं अनुभव में कार्यान्वित धर्म–नियम एवं इस कारण से त्रिरत्न बौद्ध महासंघ एवं सहायक गण की संस्थाओं का आकार में आना।

भले ही अभी ऐसा प्रतित हो रहा है कि अब यह चक्र पूर्ण हो चुका है, परंतु उनके साथ चर्चाओं का सिलसिला अभी जारी है .....

परा–व्यक्तिगत उर्जा :
त्रिरत्न बौद्ध महासंघ सहायक गण और धम्म का प्रवाह

धम्म–जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात है सांसारिक से असांसारिक मार्ग तक होने वाला स्थित्यांतरण – लौकिक से लोकोत्तर मार्ग तक। इस स्थित्यांतरण के होने से पूर्व, व्यक्ति पृथकजण, 'एक सामान्य जीव', होता है, जो इस भ्रम के अधीन होता है कि व्यक्ति की स्वतंत्र एवं अंतिमतः सनातन आत्म–पहचान होती है। इस पहचान के आधार पर व्यक्ति उन वस्तुओं की कामना करता है जिनके विषय में उसे लगता है कि वह उसे अधिक सुख तथा सुरक्षा प्रदान कर सकती है और व्यक्ति उन वस्तुओं से घृणा करता है जो उसे भयभीत करती है या दुःख पहुँचाती है। जिन अनुभूतियों का झुकाव अनित्यता को उजागर करने की ओर होता है, फिर वह आत्म–पहचान की भी क्यों ना हो, उन्हें या तो नजरअंदाज कर दिया जाता है या फिर उन पर विवाद उपस्थित कर दिया जाता है।

एक बार लोकोत्तर मार्ग पर प्रवेश करने के उपरांत, व्यक्ति 'आर्य' बन जाता है, वह जिसमें अंतिमतः एक वास्तविक आत्म–त्व (स्व–त्व) के होने का भ्रम टूट चूका होता है, भले ही वह अभी समूल रुप से नष्ट ना हुआ हो। परंतु, लोभ, द्वेष तथा अज्ञान की आत्म–केंद्रीत प्रवृत्तीयों की उत्पत्ती अभी भी जारी होते हुए भी वह व्यक्ति के कर्मों को नियंत्रण में नहीं रख पाती है और जैसे जैसे वह इस मार्ग पर मार्गक्रमण करता है वह जड़ से उखड जाती है।

तद्नुसार, पृथकजण से आर्य तक का स्थित्यांतरण, बहुत ही अनिवार्य रुप से, एक ऐसी चेतना का जो अंतिमतः वास्तविक आत्म के होने के भ्रम में है, ऐसी चेतना तक का स्थित्यांतरण है जिसे इस प्रकार का भ्रम नहीं है – या फिर जिसका ऐसा भ्रम लगातार कम हो रहा है। यह बात उस प्रेरक उर्जा या सामर्थ्य के भेद को स्पष्ट करती है जो धम्म मार्ग पर आगे बढ़ने हेतु इंधन का कार्य करती है। पृथकजण की

1

तरह, सांसारिक मार्ग का अनुसरण करते वक्त, सबसे महत्वपूर्ण बात होती है कर्म का सामर्थ्य। व्यक्ति जागृतीपूर्वक अपने अहं की पहचान को नैतिक तथा आध्यात्मिक मूलतत्वों के समक्ष समर्पित कर देता है जिन्हें वह इस तरह देखता है कि वह उसके अपने ही सर्वोत्तम हित के लिए है। फलस्वरुप व्यक्ति अपने आत्म–स्वार्थ का उपयोग, कर्म सिद्धांत के अनुरुप धीरे धीरे अपने स्वार्थ–भाव से ऊपर उठने के लिए करता है। कुशल कर्मों के आधार पर ऐसी मानसिक अवस्थाए उत्पन्न होती है जिनमें आत्म–आसक्ति का तत्व धीरे धीरे कमजोर होता जाता है, फलस्वरुप व्यक्ति उसके भ्रामक एवं दुखद स्वभाव को देखने मे सक्षम हो जाता है। [2]

इस अनुभूति के साथ ही व्यक्ति लोकोत्तर मार्ग पर प्रवेश कर जाता है, इस कारण आर्य बन जाता है, जिसमें स्वार्थी प्रवृत्तीयाँ उसके कर्मो के पिछे की प्रमुख प्रेरणाओं के रुप में कार्य करना बंद कर देती है। आत्म–केंद्रीत इच्छाओं के स्थान पर, भले ही वह कितनी ही साकारात्मक क्यों ना हो, अब आत्म–भाव विरहित इच्छाओं का प्रवाह उत्पन्न होने लगता है। निस्वार्थ आवेगों के इस प्रवाह को अब कर्म संस्कारितता से इंधन प्राप्त नहीं होता बल्कि उन प्रक्रियाओं से प्राप्त होता है जो धर्म–नियम के शिर्षक के अंतर्गत उत्पन्न होती है।

हमारे मन आत्म–स्वार्थ के इतने अधीन होते है कि यह कल्पना करना भी बेहद मुश्किल होता है कि एक वास्तविक आत्म–भाव विरहित मन कैसा होता होगा। ऐसा होते हुए भी : धम्म का यह प्रमुख दावा है : स्वार्थ के आधार के बजाय अन्य आधार पर, कर्म करना, तथा सुसंगत कर्म करना, संभव है। और हमारे धम्म–आचरण के माध्यम से यहीं हासिल करने का हम प्रयास कर रहें है।

कुछ ऐसे ही लगने वाले एक अनुभव का वर्णन, उर्गेन संघरक्षित स्वयं, बेहद खुबसुरती और सादगी से करते है। 15 दिसंबर 1956 को अपनी मित्र दिनू दूभाष को पत्र लिखते हुए, वे उन्हें अपनी कुछ ही दिनों पूर्व की मध्य भारत में स्थित नागपूर शहर को दी गई भेंट के विषय में बताते है, जो संयोग से डॉ. आंबेडकर की मृत्यु के शोकपूर्ण समाचार के साथ ही संपन्न हुई थी, वह महान भारतीय नेता जिसने केवल सात सप्ताह पूर्व ही, उसी शहर में, अस्पृश्यता से बाहर निकालकर बौद्ध–धर्म तक लाने तक अपने लाखों अनुयायियों का नेतृत्व किया था। जैसे ही यह दुःखद समाचार ज्ञात हुआ, लाखों की तादाद में नव–बौद्धों में शोक एवं हताशा की लहरें दौड़ गई और संघरक्षित पर अचानक ही यह कार्य आन पड़ा की वे उन्हें संबोधित कर उनमें नया जोश भरें। सभाओं के बाद सभाए और प्रवचनों के बाद प्रवचनों द्वारा और अक्सर यह क्रम देर रात्री तक भी चलता था। यह कहानी सभी को भली भाँति ज्ञात है। परंतु यहाँ ध्यान देने योग्य जो बात है वह यह है कि, किस तरह से अपने आंतरिक अनुभव का वर्णन उन्होंनें अपने मित्र को लिखे एक पत्र में किया है, बिना किसी अहंकार के तथा बिना उसके महत्व को किसी भी तरह बहुत कम आँकते हुए, जो पत्र उन्होंने एक ही सप्ताह पश्चात लिखा था :

> 'मेरा अपना आध्यात्मिक अनुभव इस दौरान बहुत ही विशेष रहा। मुझे लग रहा था कि मैं कोई व्यक्ति नहीं बल्कि एक अ–व्यक्तिगत उर्जा हूँ। एक समय पर बिना किसी सोच विचार के मैं केवल कार्य कर रहा था, वैसे ही जैसे जब कोई समाधी में होता है। और शायद ही मैं किसी तरह की थकावट महसूस कर रहा था – कम से कम ऐसी तो बिल्कुल ही नहीं जैसी थकावट की इस तरह के भयंकर तणाव के बाद कोई अपेक्षा कर सकता है, जब मैंने नागपूर छोड़ा मै काफी तरोताजा और आरामदेह महसूस कर रहा था।'[3]

2

3

'एक अ–व्यक्तिगत उर्जा' बिना किसी खतरे के हम यह मान सकते है कि इससे उनका तात्पर्य यह है कि वह बिल्कुल भी आत्म–भाव से प्रवृत्त नहीं थे। कोई भी 'व्यक्तिगत' स्वार्थ उन्हें नहीं खींच रहा था, फिर भी उन्होंने कार्य किया, और बहुत परिणामकारक कार्य किया। लोगों को बिल्कुल वहीं देते हुए जिसकी उन्हें आवश्यकता थी।

बोधिसत्व और अर्हंत

तद्नुसार, धम्म–जीवन का सबसे महत्वपूर्ण स्थित्यांतरण है आत्म–केंद्रीत प्रवृत्तीयों का आत्म–भाव विरहित प्रवृत्तीयों में होने वाला स्थलांतरण। 'आत्म–भाव विरहितता', बेशक, इसका केवल इतना ही अर्थ नहीं कि आत्म–भाव का अनुपस्थित होना : एक प्रकार की भाव–विरहित मशीन (रोबोट) की भाँति। आत्म–भाव विरहितता का अपना साकारात्मक गुणधर्म होता है, परंतु वह ऐसे शब्दों में नहीं है जिसे हम आसानी से समझ सकें। ऐसा लगता है कि व्यक्ति जिस हद तक आत्म–भाव विरहित होता है उतना ही वह उत्स्फूर्तता से उन परिस्थितियों की जरूरतों को प्रतिसाद दे पाता है जिनमें वह अपने आप को पाता है; एक तरह से एक पृथकजण को यह काफी रहस्यमय लग सकता है। हम इस तरह के कर्म के पिछे की प्रवृत्ती का वर्णन करुणा के रुप में कर सकते है; परंतु ऐसा करने से शायद दिशाभ्रम हो सकता है। अगर वह वाकई करूणा है तो, वह उन सहानुभूतिपूर्ण चिंताओं से बिल्कुल ही भिन्न है जो हम स्वयं महसूस कर सकते हैं। इसमें सहानुभूति या दया का थोड़ा भी अवशेष नहीं होता : वास्तव में यह कोई भावना है ही नहीं। यह अपनी आत्म–हितार्थ सोच में दूसरों को समाविष्ट करने का भी साकारात्मक विस्तार नहीं, जैसा की हम मैत्री–या–करुणा–भावना के लौकिक अभ्यास,[4] में विकसित करते है। बल्कि यह कार्य एक पूर्णतः प्रगल्भ चेतना का है : एक जरूरत दिखलाई पड़ती है और बिना किसी व्यक्तिगत स्वार्थ के उसे पूरा करने हेतु यथायोग्य प्रतिसाद दे दिया जाता है, इतनी ही सरलता पूर्वक जितना कि कोई बिना एक क्षण भी सोचे, किसी की जेब से गिरी हुई चीज उन्हें उठाकर दे दें, उस वक्त जिस चीज की आवश्यकता होती है उत्स्फूर्तता पूर्वक वहीं करते हुए।

आरंभिक परंपरा, वह जो विशेषतः पाली सुत्त पिटकों में पायी जाती है, अस स्थित्यांतरण का उल्लेख स्त्रोतापन्न अवस्था की प्राप्ती के संदर्भ में करती है। परंतु, वह इसके करुणार्द्र स्वभाव पर जोर नहीं देती बल्कि सनातन आत्म के भ्रम को तोड़ने एवं ऐसा करने पर जो विमुक्ती और सहजता प्राप्त होती है उसी में विहार करती है। बुद्ध का स्वयं का जीवन स्पष्ट रुप से करुणार्द्रता पूर्ण कार्य का है और ऐसा बहुत सा प्रासंगिक साहित्य उपलब्ध है जो, उदाहरण स्वरुप, मैत्री के महत्व पर जोर देता है।[5] उत्तरकाल की परंपरा जिसे अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम उस स्वरुप में मिला जिसे मोटे पैमाने पर 'महायान' के रुप में जाना जाता है, ने बुद्ध के करुणार्द्र स्वभाव पर जोर देना तो चाहा, परंतु ऐसा करते वक्त उन्होंने बुद्ध को उनके ऐतिहासिक शिष्यों से दूर रखते हुए किया, और जो लोग आदर्श के रुप में बुद्ध का चुनाव करना चाहते थे उनके सामने एक अलग मार्ग प्रस्तुत किया। कहा जाने लगा कि ऐसे बोधिसत्व सर्व सजीवों के हितार्थ स्वयं बुद्ध बनने के लिए प्रवृत्त होते है, बोधिचित्त के सामर्थ्य से, जो कि वास्तव में व्यक्ति को प्रवृत्त करने वाली वहीं उर्जा है जो आत्म–भाव विरहित होती है – हालाँकि वह बोधी से थोडी कम होती है, और अभी भी आत्म–आसक्ति के क्रमशः घटते अवशेषों के साथ संमिश्रित सी।

4

5

तद्नुसार इन उत्तरकालीन सांप्रदायों को लगा कि कम से कम दो प्रकार के धम्म ध्येय होते है : अर्हंतपद, स्वयं के लिए ही प्राप्त की गयी विमुक्ति तथा बुद्धत्व, संपूर्ण एवं परिपूर्ण बोधी जिसे बोधीसत्व के करुणार्द्र मार्ग पर चल कर प्राप्त किया गया है। परंतु यह एक समस्या निर्माण करता है। अगर वाकई यह भेद वैद्य है तो, इसके लिए एक ऐसी आत्म–भाव विरहितता की आवश्यकता होगी जो करुणार्द्र नहीं है : स्त्रोतापन्न वह व्यक्ति होगा जिसने निर्णायक तौर पर आत्म–आसक्ति को तोड़ तो दिया है परंतु आत्मार्थ इच्छाओं के बदले दुसरी प्रवृत्तीयाँ निर्माण करने का उसका कोई इरादा नहीं : वाकई एक भाव विरहित मशीन की तरह।

संघरक्षित के साथ मेरी हाल ही में हुई चर्चाओं में, उन्होंने फिर इस बात पर जोर दिया कि वह ऐसा नहीं मानते कि दो स्वतंत्र मार्ग या ध्येय है। वह ऐसा सूचित करते है कि पारंपारिक महायान को हम गलत मान कर निष्कासीत कर सकते है और धम्म के प्रवाह में प्रवेश को हम ठिक उसी तरह देख सकते है जिस तरह बोधिचित्त की उत्पत्ती को – भले ही पारंपारिक तौर पर इसे इस तरह से ना समझा गया हो। इस आधार पर हम इस बात को स्थिरता प्रदान कर सकते है कि बोधिचित्त की उत्पत्ती तथा धम्म–प्रवाह में प्रवेश केवल त्रिरत्नों को किया गया सच्चा शरण–गमण ही है जिसका विचार स्वार्थ के परित्याग एवं आंतरिक परिवर्तन के अंतर्गत किया जाता है।

तद्नुसार हम विभिन्न प्रमुख शब्दों के बीच का संबंध देख सकते है। **धम्म**, अपने सबसे महत्वपूर्ण अर्थ से, निरंतर बदलाव पर आधारित वैश्विक मूलतत्वों के अनुसार वस्तुओं का मूलस्वरुप है। **धर्म–नियम** वह संस्कारितता है जो उस समय कार्यान्वित होती है जब व्यक्ति स्वयं अपने लिए धम्म को प्रत्यक्ष रुप से देख लेता है, विशेष रुप से अपने स्वतंत्र आत्म–भाव के होने के बंधन से मुक्त होकर। **धम्म–प्रवाह** धर्म–संस्कारितता का वह प्रवाह है जिसकी कल्पना उत्स्फूर्त आत्म–विरहित उर्जा के रुप में की जाती है, जो उस व्यक्ति को जिसने निर्णायक रुप से आत्म के भ्रम को तोड़ दिया हो, बहाकर आगे और आगे आत्म–भाव विरहितता की ओर ले जाती है। जो व्यक्ति उस प्रवाह में प्रवेश करता है वह **स्त्रोतापन्न** होता है। **बोधिचित्त** का अर्थ है निरंतर बढ़ती आत्म–भाव विरहित मानसिक अवस्थाओं का वह प्रवाह जो धर्म संस्कारितता के आधार पर उत्पन्न होता हैं। **बोधिसत्व** वह है जिसमें बोधिचित्त एक प्रबल उर्जा बन जाती है और इस कारण वह निस्वार्थ भाव से दुसरों की गहरी(सच्ची) जरूरतों को प्रत्युत्तर देता है। **अंतर्दृष्टी** या *विपश्यना* धम्म–प्रवाह में प्रवेश को निर्णायक रुप देती है और अस नए शब्दार्थ के अनुसार, बोधिचित्त के **अप्रत्यागमणीय** बनने को – यद्यपि, निश्चित ही, जिस प्रकार से यहाँ इस शब्द का तथा बाधिसत्व मार्ग के अन्य शब्दों का उपयोग किया गया है, वह विकसित महायान परंपरा मे उपयोग किए जाने वाले उनके महत्पूर्ण संदर्भ से मेल नहीं खाते क्योंकि भिन्न विचार पद्धतियों का विकास भिन्न परिस्थितियों में हुआ है और इसलिए यह संभव नहीं कि उनका इस तरह से परस्पर संबंध जोड़ा जा सके।[6]

इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि 'बोधिचित्त' इस शब्द का प्रयोग जब व्यक्तिवाचक संज्ञा के रुप में किया जाता है – वह ऐसा रुपकात्मक उपयोग है जिससे वह सनातन परा–प्राकृतिक असतित्व जान पड़ता है, जिस व्यक्ति में वह उत्पन्न होता है उससे स्वतंत्र अस्तित्व के तौर पर और इस तरह ब्राम्हणवाद के 'आत्मा' के विचार के सदृश जिस विचार के विषय में बुद्ध ने बहुत स्पष्ट शब्दों में निषेध व्यक्त करते हुए प्रमुख रुप से अस्वीकार किया था। सचमुच कई बार बौद्धों को हम 'बोधिचित्त' इस शब्द का इसी तरह सरलता एवं भोलेपण से प्रयोग करते हुए सुनते है, यहाँ तक कि त्रिरत्न संघ में भी। परंतु सावधानी और योग्य रुप से उपयोग किए जाने पर, यह एक गतीशील प्रक्रिया को सूचित करता

6

है, जिसका तात्पर्य आत्म–भाव रहित मानसिक अवस्थाओं के उस प्रवाह से है जो धर्म–संस्कारितता के आधार पर उत्पन्न होती है, और इस तरह एक सनातन परा–प्राकृतिक अस्तित्व होने से यह कोसों दूर है। वर्तमान में तो यह शब्द इतने विस्तृत रुप से इस्तमाल किया जाता है और कई लोगों के लिए तो इतने गहरे धार्मिक महत्व को दर्शाता है कि इसके उपयोग को टालना लगभग असंभव है। इसकी उपयोगितता का कारण है इसका निस्वार्थ अवस्थाओं के पिछे के आत्म–भाव के परित्याग करने के स्वभाव पर दिया गया जोर और उन अवस्थाओं के 'अ–व्यक्तिगत' स्वभाव पर : उनके आत्मार्थ की इच्छाओं से कुछ लेना देना ना होने पर। चाहे जो भी हो, इसका उपयोग पर्याप्त सावधानी बरतते हुए ही किया जाना चाहिए, इसके परा–प्राकृतिक अस्तित्व के सूचक होने के खतरे के प्रति जागृत रहते हुए। मैं तो यह सूचित करना चाहूँगा कि, बिना ऐसी प्रभावशाली भाषा के जो इसका कार्यकारण भाव के सिद्धांत के साथ संबंध जोड़ पाए, इसका प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए।

तद्नुसार, संघरक्षित महायान परंपरा के दो मार्गो में दिखलाए भेद को स्वीकार नहीं करते। परंतु यह प्रचलित ही कैसे हुआ? हाल ही में हुए विद्वतापूर्ण संशोधनों के नतीजों की तरह, वह मानते है कि अनेक बातों के प्रत्युत्तर के रुप में, धीरे धीरे यह कई शताब्धीयों के काल में उभर कर आया है। इस भेद तक पहुँचने के लिए चाहे जो भी ऐतिहासिक ताकते इसके पिछे रहीं हो, संघरक्षित मानते है कि इसके परिणामस्वरुप पुरानी परंपराओं में जो प्रबल प्रवाह थे उनके द्वारा किए गए एकांकी प्रतिपादन में इससे सुधार आया, उन प्रवाहों में जो विशेषरुप से व्यक्तिगत दुखों से अंतिम मुक्ति एवं संबोधी से प्राप्त पुनर्जन्म के चक्र से मिलने वाली मुक्ति पर ही जोर देते थे। अत्यंत जटिल एवं उससे भी अधिक अस्पष्ट ऐसे इतिहास को वह जितना है उससे सरल जतलाने का खतरा मोल लेते हुए संघरक्षित ऐसा प्रतिवाद करते है कि उपरोक्त प्रबल प्रवाहों से बाहर हमेशा ही एक ऐसा अहसास जिवित रहा था कि बुद्ध स्वयं ऐसी किसी बात का सदृश उदाहरण है जो व्यक्तिगत मुक्ति से अधिक है और धम्म–जीवन करुणा को विकसित करने से उतना ही संबंधीत है जितना की वह उस प्रज्ञा की प्राप्ती से संबंधीत है जो दुखों से मुक्ति दिलाती है।

परंतु, प्रबल कथानक (पुरानी मान्यता) पर्याप्त रुप से प्रस्थापित था और सर्वसामान्य रुप से मान्यताप्राप्त मौखिक परंपरा में इसका इतनी पर्याप्त मात्रा में समर्थन पाया गया कि इसके अपने रुप में इस मान्यता को स्वीकृती प्रदान करनी ही पड़ती थी। एक विस्तृत चित्र का प्रतिपादन करने हेतु फिर एक नयी कहानी की आवश्यकता थी कि और एक अधिक–और उच्चतर–ध्येय है : सर्व सजीवों के हितार्थ *सम्यक संबोधी* की प्राप्ती, जो केवल स्वयं के लिए नहीं है, अर्थात ऐसे समय पर और ऐसे स्थान पर बोधि को प्राप्त करना जहाँ धम्म की कोई जानकारी उपस्थित ना हो : बुद्ध बनकर। इस मार्ग का अनुसरण बोधिसत्वों द्वारा किया जाता था।

तद्नुसार शाक्यमुनि बुद्ध को भी इस भेद के अनुसार नए परिवेश में ढाला गया। उनके तात्कालिक शिष्यों का, जो पाली तथा अन्य ग्रंथो में मिलते है, अर्हंतपद का उद्धरण करने वालों के रुप मे पुनर्विवरण दिया गया, जो कि दुःख के चक्र से व्यक्तिगत मुक्ति के अभिलाषी है। स्वयं बुद्ध के बारे में कहा गया कि वह बोधिसत्व मार्ग की चरमसीमा तक पहुँच चुके थे, जिस मार्ग पर चलने के लिए उन्होंने अनगिनत जन्मों पूर्व अपने आप को प्रतिज्ञाबद्ध किया था। ऐसी कहानी सामने आयी कि उन्होंने दिपंकर बुद्ध के समक्ष बोधिसत्व प्रतिज्ञा ली और फिर अपने एक के बाद एक जन्म में सुव्यवस्थित रुप से *पारमिताओं* का आचरण किया, *भूमियों* को पार करते हुए, बोधिसत्व मार्ग के विभिन्न पड़ावो को पार करते हुए, उस वक्त तक जब तक कि वह दसवीं और अंतिम भूमी तक ना पहुँच गए। तब वह अपने इतने जन्मों के संकल्प को पूर्ण करने हेतु तैयार थे, अपना अंतिम जन्म लेने हेतु ऐसे समय पर जब धम्म के सारे अवशेष लुप्त हो चुके थे : इस प्रकार ढाई हजार पूर्व उत्तर भारत में शाक्य कुल के वंशज

के रुप में प्रकट होते हुए, और वहाँ *सम्यकसंबोधी* की ओर उन्हें अपना आखरी कदम बढ़ाना था। दूसरे शब्दों में, जब अंतिम बार उनका पुनर्जन्म हुआ, तब वह और कुछ नहीं बल्कि बुद्ध ही थे।

संघरक्षित इसे कम–अधिक मात्रा में 'ऐसी ही' एक कहानी मानते है, हाँ लेकिन ऐसी जो खुबसुरत एवं प्रेरणादायी है। नजदीक से परिक्षण करने पर कई समस्याए सामने आती है, दोनों ही तरह की ऐतिहासिक भी और धम्म–जीवन की वास्तविकताओं के संदर्भ में भी। सबसे पहली बात पाली या उसके समतुल्य अन्य स्त्रोंतों में ऐसी स्थिती का समर्थन करता हुआ थोडा या बिल्कुल भी साहित्य नहीं है।[7] क्योंकि यह स्त्रोत ऐतिहासिक दृष्टी से सर्वाधिक विश्वसनीय वर्णन है जो हमारे पास उपलब्ध है उन बातों को देखने के लिए कि बुद्ध ने वास्तव में क्या कहा और किया। इन स्त्रोतों द्वारा प्रमाणित की जाने वाली बातों के परे जाना मतलब कल्पनाओं मे भटकने जैसा है।

उत्तरकाल की परंपराओं ने स्वयं का समर्थन 'ऐसी ही' अन्य कहानियों से किया, यह प्रतिवाद करते हुए कि पुराने ग्रंथ में जो बुद्ध है उन्होंने सर्व–सामान्य क्षमता रखने वाले लोगों को छोटे ध्येय की शिक्षा प्रदान की तथा विशेष आध्यात्मिक गुणों से संपन्न लोगों के लिए उन्होंने आगे की शिक्षाए प्रकट की जो अन्य स्त्रोतों मे पायी जाती है, महायान सूत्र के रुप में। हालाँकि इनमें से अधिकतर की रचना, स्पष्ट है कि बहुत बाद में की गई है, भले ही पुरानी प्रेरणाए उनमें शामील है।[8] इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि इसका यह अर्थ नहीं की उन्हें पूरी तरह से खारिज कर दिया जाना चाहिए, क्योंकि उनमें से अधिकतर बातें बहुत अधिक आध्यात्मिक ऊँचाई वाली है और बुद्ध की शिक्षा के साथ सुसंगत है और इस कारण से काफी मौल्यवान है। फिर भी स्पष्ट रुप से कहा जाए तो वह काल्पनिक ही है। बेशक, बहुत से महान उपन्यासों में कितने ही अधिक लिखित इतिहास से कहीं अधिक सत्य होता है, परंतु ऐतिहासिक दृष्टीकोण से उनकी अपने ही बारे मे कही गई कहानी को गंभीरता से नहीं लिया जा सकता और इस बात की आवश्यकता है कि जिस प्रकार की समीक्षा संघरक्षित कर रहे है उसके प्रकाश में उनके संदर्भ को पुनः स्पष्ट किया जाए।

पालि ग्रंथो के होने–वाले–बुद्ध स्पष्ट है कि किसी भी कसौटी के अनुसार एक असाधारण व्यक्ति है, जिसकी चणाक्षता, बुद्धि चातुर्य, नैतिक धैर्य एवं दृढ़ निश्चय ही सामान्य व्यक्ति की क्षमता से कहीं अधिक परें है। परंतु, वह अपने आप को ऐसे प्रस्तुत करते है कि उन्हें कई वर्षों तक बुद्धत्व का मार्ग खोजना पड़ा तथा भय, निराशा और अन्य मानसिक अशुद्धियों को भी काबू करना पड़ा।[9] वह बहुत ही निश्चित रुप से हमारे जैसे ही मनुष्य प्रतित होते है यद्यपि ऐसे जिनके गुण असामान्य है। इससे भी अधिक, बुद्धत्व की प्राप्ती से पूर्व, उन्हें कभी भी औरों के प्रति की करुणा की वजह से विमुक्ति को पाने की चिंता करते हुए नहीं दिखाया गया। यह सब कुछ बाद मे स्पष्ट किया गया एक नाट्य या प्रदर्शन के रुप में, एक प्रकार से प्रशिक्षण साहित्य की तरह। पर अब इसमें पर्याप्त प्रोत्साहन शेष नहीं है।

सबूतों के मिलने की समस्या के अलावा, संघरक्षित का यह मानना है कि अगर महायान के बुद्ध की जीवन क्रिया को शब्दशः लिया जाए तो वह एक काल्पनिक प्रकार के आध्यात्मिक जीवन को निमंत्रित करती है। ऐसा प्रतित होता है कि वह यह सूचित करती है कि सचेतन अवस्था में कोई स्वयं अपने आपको कई जन्मों पश्चात भविष्य में पुनर्जन्म लेने हेतु प्रतिज्ञाबद्ध कर सकता है, ऐसे समय पर तथा ऐसे स्थान पर जहाँ धम्म बिल्कुल ना हो और फिर इसके लिए की वह उस समय में धम्म को खोज निकाले और दूसरों को सिखाए : इस बात के लिए प्रतिज्ञाबद्ध कर सकता है कि वह बुद्ध बनें। संघरक्षित के अनुसार यह इस बात का एकदम ही गलत चित्र प्रस्तुत करता है कि बुद्धत्व की उत्पत्ती

7

8

9

किस प्रकार से होती है, एक अचेतन व्यक्ति को यह ऐसा मानने के लिए प्रोत्साहित करता है कि ऐसा होना, मूलतः उसकी आत्म–प्रेरित इच्छा पर आधारित है। अन्य कोई भी बात वास्तविकता से इतनी दूर हो ही नहीं सकती। धम्म–नियम के स्तर पर, एक दूसरें के आधार पर निर्माण होने वाली परिस्थितियों के विकास के अंतर्गत 'बुद्ध' उत्पन्न होते है। यह धर्म–नियम प्रकियाँए ठिक उसी वक्त निर्णायक रुप ले लेती है जब आत्म–आसक्ति को पार कर लिया जाता है। ऐसा कहा जा सकता है कि कोई चीज जो 'अ–व्यक्तिगत उर्जा ' की तरह महसूस होती है, व्यक्ति को बुद्धत्व तक बहा कर ले जाती है, ऐसी ही कोई चीज जिसका अनुभव संघरक्षित को नागपूर में आया था। जैसे जैसे व्यक्ति अधिक से अधिक पूर्ण रुप से आत्म–आसक्ति का त्याग करता है, वह 'उर्जा' उसे आगे और आगे ही ले जाती है – और वह उसे कहाँ ले जाती है यह बात ऐसी नहीं की व्यक्ति अपनी आत्म–इच्छा से तय कर सके या फिर ऐसी भी कि जिसकी चिंता करना उसके लिए आवश्यक हो। वह एक ऐसी चेतना है 'जिसकी जहाँ मर्जी हो वहाँ वह बहती है' और हमें यह करना चाहिए कि हम केवल उसे बहने दें।

पारंपारिक महायान कहानी के साथ अंतिम समस्या यह है कि, ऐसा प्रतित होता है कि वह हमारे समक्ष एक मार्ग प्रस्तुत कर रहीं है, करुणा–रहित स्त्रोतापन्न अवस्था का – आत्म–भाव से इस प्रकार ऊँचे उठना कि वह निस्वार्थ भाव से रहित हो। यह तो आरंभ में ही स्पष्ट हो जाना चाहिए की यहाँ शब्दों में ही विरोधाभास है।

ऐसे में तब हमारे पास वह चित्र शेष रह जाता है जो पाली एवं अन्य आरंभिक ग्रंथो में पायी जाने वाली सामग्री को महायान दृष्टीकोण की आध्यात्मिक समृद्धी के साथ एकत्रित लाता है। धम्म–जीवन निश्चित ही व्यक्ति को उसके सारे दुखों से मुक्त करने के साथ ही, आत्म की गुलामी से भी स्वतंत्र करता है। परंतु यह स्वातंत्र्य उसे अधिक समृद्ध एवं सूक्ष्म चेतना की ओर ले जाता है, एसी चेतना जहाँ से करुणार्द्र कर्म उत्स्फूर्तता से बहते रहते है। बुद्ध की प्रेरणा उनके अर्हंत शिष्यों की प्रेरणा से बिल्कुल भी भिन्न नहीं थी, परंतु स्पष्ट रुप से बुद्ध की मानवी प्रतिभा उन शिष्यों की प्रतिभा से कहीं अधिक परें की थी। निश्चित ही ऐसा लगता है कि बुद्ध के विशेष 'वैश्विक' कार्य का विचार उनके काल के कुछ पश्चात उत्पन्न हुआ होगा। समालोचन की दृष्टी से किया गया पाली ग्रंथो का अध्ययन यह सूचित करता है कि बुद्ध की आरंभिक शिक्षाओं का रुख केवल धम्म के प्रवाह में शामिल होने की ओर था, आत्म–रहित अवस्थाओं का वह प्रवाह जो धम्म संस्कारितता के अनुरुप अग्रक्रमण करता है।

इसी अर्थ से हम बोधिसत्वों और बोधिचित्त के विषय में उसी प्रकार से बात कर सकते है जैसे की अर्हंत और धम्म–प्रवाह में प्रवेश; हालाँकि हमें इस बात की जागृती रखने की आवश्यकता होगी की हम इन शब्दों को परंपराओं में जैसा पाया जाता है उससे बिल्कुल ही भिन्न अंदाज में जोड़ रहे है – अन्यथा, हम ऐसा करते प्रतित होंगे कि अपनी सहूलीयत के हिसाब से कुछ अधिक ही सरलतापूर्वक हम शिक्षाओं के दो विभिन्न विश्वों को आपस में जोड़ रहे है। इससे खास तौर पर समस्या उस वक्त निर्माण हो सकती है जब हम पारंपारिक ग्रंथ को पढ़ रहे हो या फिर उस वक्त जब हम पारंपारिक बौद्ध–सांप्रदायिक विद्यालयों के बौद्धों के साथ चर्चा कर रहे हो।

निसंदिग्ध रुप से हमें यह बेहद अच्छी शिक्षा दी गई है कि इस तरह की ऐतिहासिक उलझन में फँसने से हम अपने आप को बचाए, विशेषतः धम्म–जीवन के दो महत्वपूर्ण नियमों का संदर्भ लेकर : कर्म और धर्म नियमों का। आखिर में हमें कुशल कर्मों के माध्यम से अपने आप में परिवर्तन लाने की व्यवहारिकता की ओर आना होगा ताकि हम निर्णायक रुप से सनातन–आत्म के होने के भ्रम को तोड़ सके और धम्म की उत्स्फूर्त 'अ–व्यक्तिगत' उर्जा को, हमें इस बात के लिए प्रवृत्त करने दें कि हम अपने इर्द गिर्द की वस्तुनिष्ठ जरूरतों को प्रत्युत्तर दे सकें। हमें इस बात ही चिंता नहीं होनी चाहिए कि यह हमें कहाँ ले

जाएगा क्योंकि इस मसले पर हमारी आत्म–प्रेरित इच्छाओं का कोई नियंत्रण नहीं रहता। दूसरें शब्दों में हमें केवल यह करना होता है कि हम कर्म और धर्म संस्कारितता के स्तर पर कार्य करते रहे। निश्चित ही ऐसा हमें एकीकृतता, साकारात्मक भावना, आध्यात्मिक ग्रहणशीलता, आध्यात्मिक मृत्यु एवं आध्यात्मिक पुनर्जन्म पर निरंतर कार्य के माध्यम से करना होगा।

त्रिरत्न बौद्ध महासंघ की स्थापना किसने की?

धम्म–जीवन का उद्देश्य होता है धम्म–प्रवाह में प्रवेश करना। अब तक हमने यह जानकारी हासिल की है कि ऐसा कर्म–संस्कारितता के आधार पर होता है और धम्म–प्रवाह स्वयं ही एक दूसरें के आधार पर उत्पन्न होने वाली अवस्थाओं का प्रवाह है जो इस समय धर्म–नियम के अनुरुप कार्यरत होता है। इससे पहले की हम पूर्ण रुप से इस प्रवाह में प्रवेश करें यह प्रक्रियाँए हम पर तात्कालिक रुप से कार्य कर सकती है और तब *श्रद्धा* या विश्वास के खिंचाव के स्वरुप, अंतर्दृष्टी के क्षणों या तीव्र प्रेरणा के क्षणों स्वरुप या निस्वार्थ दातृत्व की उत्स्फूर्त क्रियाओं के रुप में इनका अनुभव भी लिया जा सकता है। वह निर्णायक और अप्रत्यागमनीय रुप से तब बहने लगती है जब व्यक्ति स्वतंत्र आत्म के होने के भ्रम के आर–पार देख लेता है और इनका विशेष गुण होता है वृद्धींगत होती आत्म–भाव विरहितता (निस्वार्थ भाव) जिसे 'करुणार्द्रता' भी कहा जा सकता है, तब तक जब तक की इसका विवरण संकीर्णरुप से केवल भावनात्मक शब्द के तौर पर ना किया गया हो।

इन प्रक्रियाओं के विषय में इससे आगे अधिक कुछ कहना ज्यादा मुश्किल है, ऐसा इसलिए है क्योंकि वे हमारे सामान्य अनुभवों के दायरें से परे है। क्योंकि हमारे मन अक्सर, फिर चाहे वह सूक्ष्मता या कृपालुता से ही क्यों ना हो, आत्म–स्वार्थ के अधीन होते है। जो कुछ भी धर्म–नियम के अंतर्गत उत्पन्न होने वाली इन अवस्थाओं के विषय में कहा जाता है उसका अर्थ हम अनिवार्य रुप से अपने स्वयं के आत्म–आधारित अनुभवों के संदर्भ में लगा लेते है, जिससे और कुछ नहीं बल्कि यह होता है कि उनके महत्वपूर्ण गुणधर्म को ही हम जान नहीं पाते। इस कारण से भी कि उनके बारे में ऐसा कुछ है जो अपरिहार्य रुप से रहस्यमय है।

ऐसा प्रतित होता है कि ऐसी अवस्थाओं में शायद ऐसी बातों की भी झलक होती है जिनके विषय में हम इस तरह से विचार कर सकते है कि वे 'अलौकिक' है। संघरक्षित ऐसी ही किसी बात का जिक्र अपनी नागपूर को दी गई भेंट के संबंध में करते है, जिसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। उस भेंट से पहले, वह मुंबई में थे। वह अपने एक मित्र के घर रूके हुए थे जो काफी जोर देकर उनसे यह आग्रह कर रहा था कि अगले कुछ सप्ताह तक ध्यान शिविर हेतु वे वहीं उसके साथ रहे। संघरक्षित कहते है कि कुछ कारणवश यह उनके लिए भी सुविधाजनक ही होता और ऐसी कोई तात्कालिक व्यवहारिक जरूरत भी नहीं थी कि उन्हें जाना पड़े। वे सरलता से उस निमंत्रण को स्वीकृती दे सकते थे – परंतु वे *जानते* थे कि उन्हें जाना ही होगा।

> यह मैं *कैसे* जानता था इस बात को बताने के लिए मै उतना ही असमर्थ था जितना असमर्थ मैं यह बताने के लिए था कि *क्यों* मेरे लिए यह जरूरी था कि मैं अपनी राह पकड़ लू। मैने कोई अंदरूनी आवाज नहीं सूनी थी, ना ही मुझे कोई अकस्मात अंतप्रेरणा महसूस हुई थी। बात केवल इतनी थी कि मुझे *पता था,* स्पष्टरुप से और निश्चितरुप से कि *मुझे मेरी राह पर चल पड़ना है,* और उसके अनुसार मैनें 5 दिसंबर को वहाँ से प्रस्थान करना तय किया।

नागपूर के लिए प्रस्थान करने के पश्चात वे कहते है कि उन्होंने महसूस किया

> कुछ संतुष्टी और चैन भी कि अंतिमतः मै अपने इस ज्ञान के आधार पर कार्य कर रहा हूँ कि मेरे लिए जरूरी है कि मै अपनी राह पकड़ लू ..... यद्यपि यह क्यों जरूरी था यह मै अभी भी जान नहीं पाया था।

वह बात, निश्चित ही, नागपूर में उनका आगमन होने के पश्चात जल्द ही स्पष्ट हो गई, जब पिछले ही दिन देर रात्री को हुए डॉ. आंबेडकर के निधन का समाचार उन्हें दिया गया।[10]

यह समझना मुश्किल है कि इस सब का क्या निष्कर्ष निकाला जाए, और शायद किसी को ऐसी कोशिश करनी भी नहीं चाहिए। ज्यादा से ज्यादा कोई यह कहने का धैर्य कर सकता है कि ऐसा लगता है जैसे कि यह धार्मिक प्रक्रियाँए ऐसे संबंधो एवं नियमों का अनुसरण करती है जिसका सुस्पष्ट आकलन होना सामान्यतः संभव नहीं। और ऐसा भी प्रतित होता है कि उनका अपना स्वयं का सृजक सामर्थ्य होता है, जो उस व्यक्ति की इच्छाशक्ति से स्वतंत्र होता है जिस व्यक्ति मे उसका प्रकटीकरण हुआ हो। इसी प्रकार की किसी बात का निर्देश उस पत्र में भी मिलता सा प्रतित होता है, जो 14 अक्तूबर 2011 को संघरक्षित ने मुझसे लिखवाया था, जिसमें उन्होंने अपने उस वक्त के अनुभवों पर चिंतन किया है जब वह इस आंदोलन की स्थापना कर रहें थे। उस पत्र में निम्नलिखित बेहद गंभीर महत्वपूर्ण पंक्तियाँ है :

> मै यह कह सकता हूँ कि पिछले कुछ वर्षो में पाश्चिमात्य बौद्ध महासंघ के इतिहास की ओर मुड़ कर देखने पर मै अचंभित हो जाता हूँ कि कितना कुछ हासिल किया जा चुका है। उसी वक्त मैने यह भी महसूस किया है, या फिर स्पष्ट रुप से देखा है कि यह सिर्फ मेरे अकेले से साध्य नहीं हुआ है। यह ऐसा था जैसे कि कोई परा–व्यक्तिगत उर्जा मेरे माध्यम से कार्य कर रहीं थी, एक उर्जा या शक्ति जिसके लिए, एक तरह से, मै जिम्मेदार नहीं था। इस भावना या अनुभूति को मैनें मेरी कविता 'द विन्ड' में अभिव्यक्त किया है, जो मै यहाँ आपके लाभ के लिए उद्घृत कर रहा हूँ।

The Wind

A wind was in my sails. It blew
Stronger and fiercer hour by hour
I did not know from whence it came,
Or why. I only knew its power.

Sometimes it dashed me on rocks,
Sometimes it spun me round and round.
Sometimes I laughed aloud for joy,
Sometimes I felt peace profound.

It drove me on, that manic wind,
When I was young. It drives me still
Now I am old. It lives in me,
Its breath my breath, its will my will.

वह हवा

एक झोंका हवा का मेरी पालों मे था। बहता था वह
तेज रफ्तार और बढती उग्रता संग घंटे दर घंटे
ना मालूम मुझको के कहाँ से था वो आया,
या क्यों कर। मै तो जानता था सिर्फ उसका सामर्थ्य।

कभी पटकता मुझे वो चट्टानों पर,
कभी घूमाता मुझे वो गोल गोल।
कभी हसँता ठहाके मार कर मै मारे खुशी के,
कभी करता महसूस मै गहन नीरवता।

वह बहाकर ले जाता मुझे, वो मदमस्त हवा का झोंका,
जब मै जवान था। वह अब भी बहा ले जाता है मुझे
अब मै हो चूका हूँ बूढ़ा। वह जी रहा है मुझमें,
उसकी साँसे मेरी साँसे, उसकी मर्जी मेरी मर्जी।[11]

10

11

उनका यह विलक्षण वक्तव्य और उसे उतने ही योग्य रुप से व्यक्त करती यह कविता, सूचित करती है, संघरक्षित के अपने ही अनुमान अनुसार कि त्रिरत्न बौद्ध महासंघ, व्यक्तिगत स्वार्थ या आत्म–प्रेरित इच्छाओं मे से उत्पन्न नहीं हुआ है। ऐसा प्रतित होता है कि वह किसी भी व्यक्तिगत इच्छा का नहीं बल्कि धम्म का ही मूर्तिमंत रुप है।

इन सारी बातों पर मैं और गहराई से विचार करना चाहता हूँ क्योंकि मेरे लिए यह बात हमेशा महत्वपूर्ण रही है कि जिस आंदोलन के साथ मै जुड़ा हूँ उसकी उत्पत्ती और कार्यान्वितता का कारण किन्हीं उच्चतम आदर्शों या मृत आचार्य के शब्दों से कहीं अधिक हो। अन्य बहुत से लोगों की ही तरह मैनें इस कार्य के लिए अपना जीवन समर्पित किया है, क्योंकि मैनें यह महसूस किया है कि इसके ह्रदय में और भी कुछ है। इसका क्या अर्थ है इस बात का मै और भी ज्यादा नजदीक से परिक्षण करना चाहता हूँ, जिसका आधार होंगी संघरक्षित के साथ हाल ही में हुई चर्चाए, उनके द्वारा लिखित साहित्य एवं उनकी शिक्षाँए। इस कारण मेरा ऐसा मानना है कि इस गहरे अध्याय को मै अपने स्वयं के जीवन में भली–भाँती समझता हूँ और शायद इसी वजह से औरों से इस विषय में भली–भाँती से बात कर बातचीत कर सकता हूँ – और ऐसा मैं इस वजह से करना चाहता हूँ क्योंकि मुझे ऐसा लगता है कि इस संदर्भ में जब यह स्पष्ट रुप से समझ लिया जाएगा कि हम किस (कार्य) के साथ जुड़े हुए है तो वह संघरक्षित के सारे शिष्यों को एकत्रित रुप से परिणामकारक कार्य करने हेतु सहायता प्रदान कर सकता है – और शायद यह अन्य बौद्ध लोगों के लिए भी उपयोगी सिद्ध हो सकता है। परंतु, साथ ही मैं इस बात से भी अवगत हूँ कि इसमें एक खोह है – ऐसा कहा जा सकता है, विश्वसनीयता की खोह (gap of credibility)।

इस खोह के दो अंग है : एक का संबंध इस बात से है कि जिस विषय की चर्चा कर जा रही है उसका स्वरुप क्या है और चर्चा के लिए जिस भाषा का उपयोग किया जा रहा है उसका स्वरुप क्या है। दूसरे अंग का संबंध इस बात से है कि इस प्रबंध के लेखक तथा पाठकों का संघरक्षित के साथ संबंध किस तरह का है। मै यह लेख संघरक्षित के चालिस से भी अधिक काल से प्रामाणिक रहे शिष्य के रुप में लिख रहा हूँ। जैसा होना थोडी–अधिक मात्रा में अपरिहार्य है मेरा संबंध उनके साथ हमेशा एक जैसा नहीं रहा। शिष्यत्व को लेकर मेरी अपनी कठिनाईयाँ रही है, जिसका अधिकतर संबंध मेरी अपनी प्रक्रियाओं से था। लेकिन, मुझे अब भी और हमेशा ही उनकी पूर्णता पर, विशेषतः उनके धार्मिक अनुभवों के संदर्भ में, संपूर्ण विश्वास रहा है। सचमुच, कई बार आंतरिक दृष्टी के गंभीर क्षणों के बारे में वह इतने खुलेपण से और बिना उससे कोई निष्कर्ष निकाले बात करते है कि जैसे उन्हें इस बात की आवश्यकता ही नहीं जान पड़ती की उन अनुभवों को वर्गीकृत किया जाए या फिर सैद्धांतिक या तात्विक स्वरुप दिया जाए, जिससे वह इतनी विश्वसनीय लगती है कि उन्हें किसी प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं लगती। अक्सर इन बातों का जिक्र यूँ ही आ जाता है, किसी कहानी के दौरान जो वो बता रहे होते है, जैसे कि 1956 की उनकी नागपूर यात्रा का वर्णन उन्होंने किया है। इसलिए मुझे इस बात की जरा भी आवश्यकता नहीं लगती कि मै इस बात पर सवाल खडा करू कि क्या उन्होंने वास्तव में वैसा अनुभव किया था जो वह कहते है कि उन्होनें किया। यहाँ से आगे मै जो कुछ भी कहूँगा वह इसी विश्वास के आधार पर होगा। परंतु मै इस बात से अवगत हूँ कि शायद अन्य लोग इससे सहमत ना हो – और मै उनसे ऐसी अपेक्षा भी नहीं कर सकता। मै यह जानने के लिए उत्सुक हूँ कि आगे जो कुछ भी कहा गया है उसे वह किस तरह लेंगे, लेकिन मै आशा करता हूँ कि उसमे से ऐसा कुछ सामने आएगा जो उनके लिए भी उपयोगी सिद्ध हो।

विश्वसनीयता की उस खोह के संदर्भ में किसी समझौते तक आना कठिन है जिसका संबंध अनुभवों के स्वरुप एवं उन्हें व्यक्त करने के लिए उपयोग की जाने वाली भाषा की शैली से है। अब तक इस लेख

में मैने अधिकतर ऐसी भाषा का प्रयोग किया है जिसे 'सैद्धांतिक' कहा जा सकता है : संस्कारितता की भाषा, विशेषतः अपने कार्मिक एवं धार्मिक स्वरुप में। मैने 'बोधिचित्त' इस शब्द के परा–प्राकृतिक अस्तित्व ध्वनित होने की संभावना को ध्यान में रखते हुए इस शब्द के प्रयोग में सावधानी बरतने की भी सूचना की। दूसरी ओर 'शक्ति' या 'उर्जा' के विषय में बात करते हुए हम एक अलग ही संवाद में प्रवेश करते है। जिन उदाहरणों को यहाँ उद्घृत किया गया है, उनमें अपने अनुभवों का वर्णन करने के लिए संघरक्षित ने बहुत सावधानी से शब्दों का चुनाव किया है। 1956 में वह कहते है : 'मुझे लगा कि मै कोई व्यक्ति नहीं बल्कि एक अव्यक्तिगत उर्जा हूँ', और 2011 में : 'वह ऐसा था जैसे एक परा–व्यक्तिगत उर्जा मेरे माध्यम से कार्य कर रही थी'। उन्हें 'लगा' और वह 'ऐसा था जैसे' : दूसरे शब्दों में कहे तो, हम ना तो रोज–मर्रा की दुनियाँ की वास्तविकता में है और ना ही परा–प्राकृतिक क्षेत्र के दायरें में। संघरक्षित, रुपकात्मक या फिर कोई ऐसा भी कह सकता है कि काव्यात्मक स्वरुप में, हम तक इस बात को पहुँचाने का प्रयास कर रहे है कि वह अनुभव किस प्रकार का था।

अगर हम आत्म–आसक्ति से ऊपर उठने के अनुभव के स्वरुप को और अधिक समीप से समझना चाहते है तो (भाषा शैली का) सैद्धांतिक से रुपकात्मक में स्थित्यांतरण होना अनिवार्य है। 'धम्म ऐसा है', ऐसा बुद्ध कहते है कि, 'जिसे केवल तर्को के आधार पर समझना असंभव है'।[12] जो बात तर्कों की पहुँच से परे है, वह कहते है कि, उसका प्रत्यक्ष अनुभव केवल प्रज्ञावंत ही ले सकते है, वह जो वस्तुओं को धम्म के दृष्टीकोण से देखने में सक्षम होते है। परंतु भले ही हम इस अर्थ से प्रज्ञावान ना हो, तब भी यह अनुभव कैसा है इसकी झलक हम श्रद्धायुक्त कल्पनाशक्ति के माध्यम से प्राप्त कर सकते है। जैसे कि मेरे अन्य लेखों में मैनें इस विषय पर चर्चा की है, संघरक्षित के अनुसार, यहीं वह माध्यम है जो एक *पृथकजण* को प्रज्ञा का पूर्वाभास दिलाता है। कल्पनाशक्ति के इसी आकलन सामर्थ्य से, संघरक्षित, साहायता की याचना कर रहे है, जब वह अपना अनुभव कथन कर रहें है। इस माध्यम के जिवित रहते ही, हमारे लिए यह संभव हो पाएगा कि हम विश्वसनीयता की खोह को पार कर सकें। और इस माध्यम को जिवित रखने हेतु आवश्यक है कि शब्दशः हम जिसे बुद्धि कहते है उसे तात्कालिक रुप से स्थगित कर दे, फिर चाहे वह उसकी कुछ भी नजरअंदाज करने वाली बेफिक्री की अवस्था में हो या फिर किसी भी बात को अल्प से प्रमाणों के आधार पर स्वीकार करने वाली अवस्था में हो। यह दोनों ही, रुपकात्मक या चिन्हों द्वारा व्यक्त किसी गहन सच्चाई की ओर किए गए निर्देश को, मर्यादित रुप से ही वास्तविक अर्थ दे पाते है, परंतु उनका प्रभाव बहुत ही अलग तरह का होता है।

कुछ लोगों का यह प्रतिवाद हो सकता है कि इस प्रकार के सारे रुपकात्मक भाष्य को टालकर प्रतित्य–समुत्पाद की शिक्षा के सुरक्षित स्थान के साथ बने रहना ही सबसे बेहतर होगा। इस दृष्टीकोण के साथ मुझे भी थोड़ी सी व्यक्तिगत सहानुभूति है, क्योकि अन्य कोई भी दृष्टीकोण हमें शाश्वतवाद की कैद में जकड़ सकता है, जो निश्चित ही मेरी सुझबूझ पर मुझे जकड़न जैसा लगता है। परंतु अधिक कुछ ना दे पाने की असमर्थता अपने आप में ही उच्छेदवाद पर आधारित दृष्टीकोण से विश्लेषण करने का निमंत्रण है। संघरक्षित कहते है कि हमें एक 'लोकोत्तर वस्तु' की आवश्यकता होती है, जिसके अनुरुप हम अपने जीवन की रचना कर सकें। हमें इसकी आवश्यकता इसलिए है क्योंकि इस दुनियाँ को देखने और समझने की हमारी मूल पद्धती ही विषय और वस्तु के माध्यम की है – इसके बावजूद कि धम्म हमें उनके अपरिपूर्ण एवं संस्कारित होने से अवगत होने की शिक्षा देता है। हम अनिवार्य रुप से अपने मूल अनुभवों की सहायता से ही धम्म के बारे में सोचते है या फिर उससे भी अधिक कह सकते है कि महसूस कर पाते है – जब तक कि हम इस योग्य नहीं हो जाते कि उनकी अपरिपूर्णता को हम स्वयं प्रत्यक्ष रुप से देख सके। शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के मध्य की इस खोह में फँसने से

12

बच निकलने के लिए हमें दो बातों की आवश्यकता है। हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम जो कुछ भी कह रहे है उस पर समालोचन की दृष्टी से विचार करने की हमारे पास इच्छाशक्ति हो ताकि उसके शब्दशः अर्थ को ग्रहण करना हम टाल सकें और दूसरी आवश्यक बात है एक 'लोकोत्तर वस्तु' की कल्पना करने की तैयारी रखना।[13]

उस उर्जा या शक्ति के विषय में जो व्यक्ति को उसके व्यक्तिगत दायरों सं ऊपर उठा देती है, इस प्रकार से बात करते हुए जिस प्रकार से संघरक्षित कर रहें है वह इस ओर इशारा कर रहे है कि धम्म–प्रवृत्तीयों की अनुभुति कैसी होती है और हमारी सर्वसामान्य चाहने तथा पाने की अनुभूति और उस अनुभूति में विशेषतः क्या अंतर होता है। अधिकतर हमें हमारे स्वायत्त होने की स्पष्ट अनुभूति होती है : हमें लगता है कि हम स्वयं हमारे कर्म करते है – भले ही कभी कभी हमें ऐसा भी लगता है कि हमने जो कुछ भी किया वह सिर्फ इसलिए किया क्योंकि दूसरों ने या हमारी परिस्थितियों ने हमारे लिए 'कोई और रास्ता' नहीं छोडा था। अधिक समालोचक दृष्टीकोण से देखते हुए, हम सचमुच इस बात पर शंका उपस्थित कर सकते है कि वास्तव में किस हद तक 'हमारा' हमारे कर्मो पर नियंत्रण होता है – या फिर 'हम' कौन है इस बात पर भी शंका उपस्थित की जा सकती है। ऐसा होते हुए भी, सर्व–साधारण उद्देश्यों के लिए हम निश्चित ही हम इसी प्रकार से बातचीत करते है या समझते है कि क्या घटित हो रहा है : 'यह मैनें किया है'।

हमारे जीवन के, निश्चित ही, ऐसे भी कुछ क्षण होते है, जो हमारी समझ के परें के होते है, जब हम 'नहीं जानते हम पर कौनसा भूत सवार था' या फिर हम 'बहक जाते है' और दबी हुई उर्जाए बह निकलती है या फिर उनका विस्फोट हो जाता है, जो हमारी चेतन इच्छा के बिल्कुल विपरित होता है। कई बार हम ऐसी मनः स्थिती या असमय आने वाले विचारों को अनुभव करते है जो हमारी अपने बारे में जो सोच होती है उससे मेल नहीं खाते। इसका विपर्यास हो तो, इन सब बातों का विचार मानसिक संतुलन बिघडने के तौर पर किया जा सकता है, विशेषतः अगर इस प्रकार का बर्ताव समस्या उत्पन्न करता हो तो, सामाजिक या फिर कानून–व्यवस्था के दृष्टीकोण से।

तद्नुसार हमारे पास दो ख्याल है, नियंत्रण में होने का और नियंत्रण से बाहर होने का : हमारी अनुमानीत आत्म–पहचान के नियंत्रण में एवं नियंत्रण से बाहर। लेकिन एक तिसरे प्रकार का अनुभव और भी है और इसी अनुभव की तरफ संघरक्षित इशारा कर रहें है। इस तिसरे प्रकार के अनुभव में हमारी प्रवृत्तीयों मे स्वार्थ भरी इच्छाओं का कोई अंश नहीं होता और फिर भी हमें 'नियंत्रण खोने' कोई आभास नहीं होता। यह ऐसा है जैसे हम स्वयं ही अपनी आत्म–पहचान के रुप में ही, स्वच्छा से अपने आपको ऐसी बातों से प्रवृत्त होने की इजाजत दे देते है, जिन बातों का हमारी अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ–आधारित इच्छाओं से कोई लेना देना नहीं होता। यहाँ हम सबसे अच्छा आधार धर्म–संस्कारितता का ले सकते है : व्यक्ति के भीतर निर्मित होती इच्छाए परंतु जिनका संदर्भ व्यक्तिगत नहीं है।

इस प्रकार का अनुभव, शायद, कुछ हद तक काव्यात्मक या कलात्मक प्रेरणाओं से समानता रखता है। एक सच्चा कलाकार अपनी वास्तविक बुद्धि को परें रखता है और अपने आपको काल्पनिकता के विस्तार के समक्ष प्रस्तुत करता है, और अपनी उस 'नकारात्मक क्षमता'(negative capabililty) को क्रियान्वित करता है जो किट्स के अनुसार काव्यात्मक कल्पना के लिए अनिवार्य है – कुछ उसी आध्यात्मिक ग्रहणशीलता की तरह जिसे हमने संघरक्षित की सराव–पद्धति में देखा था। शब्द, आकार, स्वर बिना रोक–टोक के कल्पना में उत्पन्न होते है और उन्हें उत्पन्न करना किसी सर्वसाधारण

13

इच्छाशक्ति के वश में नहीं होता।[14] कलाकार अपने आपको इन शक्तियों के समक्ष प्रस्तुत करना सिखते है और साथ ही यह भी कि वह उन्हें अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं से मुक्त रखते हुए स्वायत्त रुप से अपने आपको अभिव्यक्त होने को मौका दें। समथा ध्यान–साधक भी इसी प्रकार अपनी सर्वसाधारण '**काम–लोक**' आधारित समझ को विश्रांति देने का अभ्यास करता है ताकि रुप–एवं–अरुप लोक के अनुभव अपने आपको प्रकट कर सकें, जब वह ध्यान के क्षेत्र में भ्रमण कर रहा होता है। किसी को ऐसा भी महसूस हो सकता है कि वह ध्यान के मध्य में ही उसे दिखालाई देने वाली किसी छवि से संवाद कर रहा हो, जिस छवि से वह प्रेरणा भी प्राप्त कर सकता है।

परंतु, कलात्मक या ध्यान की प्रेरणाँए, दो विभिन्न बातों में की समानता मात्र को दर्शाती है, या कम से कम ऐसा प्रतित होता है कि यह उस बात का लौकिक स्वरुप है जिसका संघरक्षित वर्णन कर रहें है। सर्वसाधारण रुप से कहें तो, एक कलाकार की कल्पना अपने आप को कर्म संस्कारितता के अंतर्गत प्रकट करती है – यद्यपि यह भी हो सकता है कि एक महानम कलाकार इससे भी अधिक कुछ को स्पर्श करें। ऐसा महसूस करना कि कोई एक व्यक्ति ना होकर एक अ–व्यक्तिगत उर्जा है या फिर उसका ऐसा कुछ होना जैसा कि कोई परा–व्यक्तिगत उर्जा या शक्ति उस व्यक्ति के माध्यम से कार्य कर रहीं हो, निश्चित ही यह प्रेरणा से अधिक ही कुछ हो सकता है, चाहे जो भी हो उसकी पदमर्यादा बहुत ही उच्च स्वरुप की है। कोई अपने आप को स्वेच्छा से उन प्रेरणाओं के अधीन कर लेता है जिन प्रेरणाओं का उगम स्वयं उसके भीतर बिल्कुल भी ना हुआ हो।

संघरक्षित के शिष्यों के लिए मुझे यह बात विशेषरुप से महत्वपूर्ण लगती है कि संघरक्षित ऐसा मानते है कि त्रिरत्न बौद्ध महासंघ एवं इस आंदोलन की स्थापना केवल उनके अकेले के द्वारा नहीं हुई है बल्कि धर्म संस्कारितता के अनुरुप कार्यान्वित आत्म–भाव विरहित उर्जाओं द्वारा भी हुई है। परंतु यहाँ एक गलतफह़मी होने की भी गुंजाईश है। अगर कोई इस बात का शब्दशः अर्थ लेता है तो वह ऐसा सोचता है कि कोई दिव्य–व्यक्ति या फिर कोई वैश्विक उर्जा 'का संचार हुआ है' इस तरह से फिर संघरक्षित और अन्य लोगों का भी यह कथन होगा कि उर्जा एक अलग व्यक्ति है और संघरक्षित अलग। परंतु इसका उस बात के साथ जरा भी समन्वय नहीं जिसकी यहाँ चर्चा की जा रही है और हमें इससे भी आगे देखना पड़ेगा कि इस संदर्भ में अपने अनुभवों के विषय में स्वयं संघरक्षित का क्या कहना है।

उन्होनें अक्सर इस बात पर चिंतन किया है कि वह ऐसा नहीं मानते कि त्रिरत्न बौद्ध महासंघ की स्थापना हेतु वही सबसे योग्य व्यक्ति थे – सचमुच हाल ही में उन्होंने मुझे बताया, एक तिरछी सी मुस्कान के साथ, कि उन्होंने इस बात को अधिक से अधिक महसूस किया है कि उनके स्वभाव के अनुसार वह इस कार्य को करने के लिए कितने अयोग्य थे। साथ ही अक्सर उन्होंने यह टिप्पणी भी की है कि, एक तरह से, वह विशेषरुप से नया ऐसा कुछ आरंभ नहीं करना चाहते थे : उनके चित्त–स्वभावानुसार, वह कहते है कि उन्हें यह भाता कि वह किसी पारंपारिक बौद्ध–मठ में पारंपारिक भिक्षु के कर्तव्यों को निभाते हुए अपना जीवन व्यतीत करते। परंतु उन्होंने एक आवश्यकता को देखा और 'उनके भीतर के कुछ' ने उसे प्रत्युत्तर दिया, ऐसा कुछ जो व्यक्तिगत या आत्म–हितार्थ नहीं था।

उद्घृत परिच्छेदों में जिसे उन्होंने परा–व्यक्तिगत उर्जा या शक्ति के समान कहा है, उसके विषय मे संघरक्षित के अपने विचारों का झुकाव इस तरफ रहा है कि वे उसे अधिकांश ऐसी चेतना के रुप में देखे जो उनकी अपनी चेतना से परें है। वह इस बात पर जोर देते है कि उर्जा या शक्ति की भाषा, विशेषतः वह जो इस तरह से बोली गई हो जैसे कि 'अ–व्यक्तिगत', तो वह व्यक्ति की सोच को इस दिशा में ले जा सकती है कि वह उस के विषय में भाव–विरहित या यंत्रवत प्रक्रिया के रुप में विचार

14

करें। निश्चित ही, स्वयं की चेतना से उच्चतर चेतना की बात करना यह भी सूचित कर सकता है कि किसी देवता या आत्मा ने उस व्यक्ति को अपने काबू मे ले लिया हो। परंतु संघरक्षित का यह विश्वास है कि आत्म–आसक्ति से ऊपर उठने के अनुभव को अधिक अचूकता से ऐसे ही व्यक्त किया जा सकता है : जैसे की उन्होंने कहा है, किसी चीज के विषय में इस तरह से सोचना कि वह 'अ–व्यक्तिगत' है मतलब उसके विषय में ऐसा सोचने जैसा है जैसे वह 'उप–व्यक्तिगत' है, जब कि हम जिस बात की ओर इशारा कर रहें है वह 'परा–व्यक्तिगत' है – और हम इस बात के और भी करीब आते है कि इसका क्या अर्थ हो सकता है, जब वह रुपकात्मक तरिके से उस बड़ी चेतना के विषय में बात करते है जो हमारी बहुत सीमित व्यक्तिगत चेतना के माध्यम से कार्यान्वित है।

परा–व्यक्तिगत चेतना के संदर्भ मे बात करने से धार्मिक अनुभवों को भी अपनी व्यक्तिगत उपलब्धीयों के साथ संमिश्रित करने की व्यक्ति की प्रवृत्ती भी सौम्य हो जाती है। जैसे कि हमने देखा है कि लोगों में इस बात को लेकर अनुचित, हद से ज्यादा चिंता होती है, अपनी व्यक्तिगत उपलब्धीयों को आँकने की और अपने स्त्रोतापन्न या वैसी ही किसी अवस्था तक पहुँचने की बात का दावा करने की चिंता। यह बात हमारे मित्रों के घेरे में भी दिखलाई पड़ती है। सघरक्षित आगे जाकर यहाँ तक कहते है कि ऐसा करना हमारे लिए मददगार नहीं है, या यह सर्वथा अनुचित है कि हम अपने आप के विषय में बोधिसत्व की तरह बात करें : बेहतर तो यह है कि हम इस प्रकार से विचार करे कि हम 'बोधिसत्व' का 'हिस्सा' है या फिर जो परा–व्यक्तिगत उर्जा या शक्ति जैसी प्रतित होती है उस उर्जा को हम अपने माध्यम से कार्यान्वित होने का मौका दे। साथ ही यहाँ पर जो कुछ भी, संघरक्षित के अपने अ–व्यक्तिगत उर्जा होने के अनुभव या फिर उनके इस चिंतन के विषय में कि यह ऐसा था कि जैसे त्रिरत्न बौद्ध महासंघ एवं इस आंदोलन की स्थापना उनके द्वारा नहीं बल्कि उनके माध्यम से हुई, कहा गया है उसके आधार पर हमें ऐसे तर्क नहीं करने चाहिए कि इस या उस आध्यात्मिक क्रम में उन्हें कौनसे स्थान पर रखना चाहिए। जो कुछ भी उनके साथ घटित हुआ उसकी केवल काव्यात्मक अभिव्यक्ति कर वह उस विषय में अपने विचार बता रहें है। उन्होंने ऐसा महसूस किया, यह ऐसा था *जैसे कि* उनकी अपनी चेतना से उच्चतर कोई चेतना उनके माध्यम से कार्यान्वित थी।

इस दृष्टीकोण से देखने पर, जिन्हें हम 'प्रतिकात्मक' बुद्ध या बोधिसत्व कहते है उन्हें अधिक बेहतर और गहराई से समझ सकते है। वे एक ऐसा मार्ग है जिसके माध्यम से हम धर्म संस्कारितता के आधार पर उत्पन्न होने वाली प्रक्रियाओं की कल्पना कर सकते है तथा उनका अनुभव ले सकते है, जो व्यक्तिगत से परे की होकर भी, व्यक्ति सदृश प्रतीत होती है। संघरक्षित के अनुसार यहीं वह रहस्यमय प्रक्रियाँए है जो त्रिरत्न बौद्ध महासंघ की स्थापना के पीछे की प्रमुख प्रेरणाँए रही है। और यह उस बात पर रोशनी डालता है कि संघरक्षित का क्या तात्पर्य है जब वह संघ की तुलना ग्यारह–सिर तथा हजार–हाथों वाले अवलोकितेश्वर से करते है या फिर उसी स्वरुप में उसकी पहचान कराते है। वह इस पहचान के विषय में कहते है कि यह 'केवल बात करने का एक तरिका नहीं, यह केवल एक रुपक भी नहीं है, हमें इसे बेहद गंभीरता से लेना चाहिए, हो सके तो इसके अर्थ को शब्दशः लेना चाहिए।[15]

यह अलग से बताने की आवश्यकता नहीं कि अपने इन अनुभवों की चर्चा करके संघरक्षित किसी भी प्रकार के शिष्यत्व की माँग नहीं कर रहे है, ना तो उनके अपने लिए और ना ही संघ के लिए। बल्कि स्थिती बिल्कुल ही इसके विपरित है। हम यह महसूस कर सकते है कि ऐसा कोई दावा स्थापित करने के स्थान पर उससे पिछे हटने हेतु संघरक्षित पूरी विनम्रता से ऐसा कह रहे है। इस वस्तुस्थिती का कि, त्रिरत्न बौद्ध महासंघ की स्थापना उनके माध्यम से उन उर्जाओं ने की जो केवल एक व्यक्ति के रुप में उनके दायरें से परे की थी, यह अर्थ बिल्कुल नहीं की संघरक्षित जो कुछ भी करते है वह निसंदिग्ध रुप

15

से मूल्यांकन के परे है। दूर दूर तक भी इससे ऐसा सूचित नहीं होता कि त्रिरत्न बौद्ध महासंघ के सदस्य (धम्मचारी/धम्मचारीणियाँ) हमेशा ही स्वार्थ–से–परे की प्रेरणाओं से प्रवृत्त रहते है या फिर अपने एकत्रित रुप में त्रिरत्न बौद्ध महासंघ हमेशा ही अनिवार्य रुप से बोधिसत्व संघ है। जैसे की बहुत ही स्पष्ट है ऐसा बिल्कुल भी नहीं है। यद्यपि यह बात अत्यंत महत्वपूर्ण है कि इसकी स्थापना, जैसा कि संघरक्षित का अपना अनुमान है, उसने की है जिसका सर्वोत्तम वर्णन वह इस प्रकार से करते है कि जैसे वह एक परा–व्यक्तिगत उर्जा या शक्ति थी या फिर शायद ऐसी चेतना जो उनके माध्यम से कार्यरत थी, परंतु हो सकता है कि शायद इसके अधिकतर सदस्य इसकी आरंभिक चालना के अनुरुप जीनें में भी असफल हो। दूसरे शब्दों में, इसकी स्थापना की है धर्म–नियम के अनुरुप संस्कारित प्रक्रियाओं ने, 'बोधिचित्त ने'– और इसलिए, निश्चित ही, धम्म ने।

हम ना केवल इतना कह सकते है कि इन उर्जाओं ने त्रिरत्न बौद्ध महासंघ को जन्म दिया है, बल्कि यह भी की इन उर्जाओं का संगोपन और सेवा ही त्रिरत्न बौद्ध महासंघ का अर्थ और उद्देश्य है। अपने संघ मे सहभागित्व के माध्यम से त्रिरत्न बौद्ध महासंघ के सदस्य स्वयं पर कार्य कर सकते है, ताकि वह धम्म के प्रवाह में प्रवेश कर सकें, जिससे धर्म संस्कारितता के अनुरुप उत्पन्न होने वाली, आत्म–भाव विरहित प्रवृत्तीयाँ खुली हो – ऐसी प्रवुत्तीयाँ जो उन्हें ऐसी प्रतित हो जैसे कि एक परा–व्यक्तिगत उर्जा या शक्ति है जो उनके माध्यम से कार्यान्वित है – या फिर एक परा–व्यक्तिगत चेतना या बोधिसत्व। तब वह, उसी सृजक उर्जा की सेवा में एवं उसके मार्गदर्शन में, हर एक व्यक्ति, एकत्रित रुप से धम्म को विश्व में परिवर्तन लाने का अवसर प्रदान करता है। इसी कारण की पूर्ति के लिए त्रिरत्न बौद्ध महासंघ का अस्तित्व है।

धर्म संस्कारितता के अनुरुप उत्पन्न होने वाली प्रक्रियाओं ने त्रिरत्न बौद्ध महासंघ की स्थापना की, इसी के फलस्वरुप संघरक्षित यह कहते है, और त्रिरत्न बौद्ध महासंघ का अर्थ और उद्देश्य है कि वह इन प्रक्रियाओं को विश्व में परिवर्तन लाने हेतु सक्षम बनाए, अपने उन प्रयत्नों के माध्यम से, जो हम व्यक्तिगत रुप से लेकिन फिर भी एकत्रित रुप से, धम्म–प्रवाह में प्रवेश के लिए करते है। हमारे असंख्य दोषों के बावजूद, मेरा अपना यह विश्वास है कि त्रिरत्न बौद्ध महासंघ वास्तव में थोडी बहुत हद तक इन प्रक्रियाओं को धारण किए हुए है। हमारे बीच ऐसे पर्याप्त लोग मौजूद है जो प्रामाणिक रुप से एक जिवित उर्जा के स्वरुप में धम्म को अपने माध्यम से कार्यान्वित होने का अवसर दे उसकी सेवा करने का प्रयास करते है और ऐसे ही पर्याप्त रुप से प्रेरित एवं दृढ़ व्यक्तियों को दी जाने वाली कल्याणमित्रता के माध्यम से व्यक्ति और संस्थाओं में भी आम तौर पर पर्याप्त मेल मिलाप है, ताकि त्रिरत्न बौद्ध महासंघ एवं सहायक गण एक संपूर्ण परिवार के रुप में कुछ हद तक ग्यारह–सिर एवं हजार–हाथों वाले अवलोकितेश्वर की चेतना को धारण कर सकें – और उसके शब्दशः अर्थ का प्रकट रुप बन सकें।

बोधिचित्त के लिए परिस्थितियाँ

यह धार्मिक उर्जा या शक्ति किस प्रकार किसी व्यक्ति के माध्यम से कार्यान्वित हो सकती है? या फिर उससे भी अधिक स्पष्टता से कहे तो, यह व्यक्तियों के किसी समुदाय, जैसा कि समुदाय त्रिरत्न बौद्ध महासंघ है, के माध्यम से कैसे कार्यान्वित हो सकती है? अगर हम यह अच्छे से समझ ले तो हम उस दिशा में अपने जीवन को परिणामकारक रुप से आकार दे सकते है और हम इस बात को भी बेहतर ढंग से देख पाऐंगे कि किस प्रकार हम अपने एकत्रित जीवन का विकास कर सकते है : हमारी संस्थाओं का एवं हमारी समान संस्कृती का। इससे त्रिरत्न बौद्ध महासंघ एवं इस आंदोलन में धम्म के

प्रवाह को धारण किए रहने की क्षमता कायम रहेगी, संघरक्षित के बाद भी कि जिनके माध्यम से इस प्रवाह ने सर्वप्रथम प्रत्यक्ष रुप धारण किया, जब वह हमारे बीच से जा चुके होंगे।

हम इसकी शुरूवात संघरक्षित के स्वयं के अनुभव की ओर देखते हुए करेंगे। शायद उनकी यह अनुभूति की वह एक 'अ–व्यक्तिगत' उर्जा थे, जिस तरह 1956 की उनकी नागपूर यात्रा के बाद उन्होंने उसे संबोधित किया, उनके अपने जीवन में अभूतपूर्व नहीं थी। हालाँकि, दिनू दूभाष को लिखे अपने पत्र में उन्होंने यह जरूर कहा है कि 'इस दौरान मेरा अपना आध्यात्मिक अनुभव बहुत विशेष था' – दूसरें शब्दों में वह विचित्र था या असामान्य था या फिर बहुत ही खास। वह कौनसी परिस्थितियाँ थी जिनके आधार पर वह खास अनुभव उत्पन्न हुआ था?

हमें उसी परिस्थिति से शुरूवात करनी चाहिए जो सबसे अधिक स्पष्ट है : उनका कई वर्षों का गहरा धम्म–अध्ययन एवं धम्म–आचरण और उनका उसके वास्तविक अर्थ की गहराईयों तक उतरना। उनके अपने ही शब्दों में, उन्होंने, 'महसूस किया था कि मैं एका बौद्ध हूँ और हमेशा ही रहा हूँ', सोलह वर्ष की आयु में, पंद्रह साल पहले, *सम्यक दृष्टी* की उस एक झलक में जो उन्हें प्रज्ञा पारमिता सूत्र[16] पढ़ने पर मिली थी। तब से, धम्म ही उनकी केंद्रीय एवं गहरी चित्ताग्रता का विषय बन गया था। अंग्रेजी में जो भी बौद्ध मूलग्रंथ उपलब्ध थे उनका उन्होंने परिश्रम से अध्ययन किया था और बुद्ध की शिक्षाओं पर सातत्य से चिंतन किया था। उनके अध्ययन एवं चिंतन का फलस्वरुप है उनके द्वारा लिखित कई लेख और काव्य की रचनाए परंतु सबसे अधिक विशेष है *सर्वे ऑफ बुद्धिझम्,* अधिकृत गहराई तथा बहुसमावेशकता से भरपूर कार्य, जो उस समय प्रकाशन की ओर अग्रसर था।

उन्होंने ना केवल धम्म का अध्ययन किया था बल्कि सक्रियता से उसका अनुभव लेने का भी प्रयास किया था। उन्होंने बारह या उससे भी अधिक वर्षों तक ध्यान का नियमित एवं सुव्यवस्थित अभ्यास किया था, जिसमें उन्हें काफी हद तक सफलता भी मिली थी, और यह भी गौर तलब है कि आने वाले कुछ की महीनों के समय में वह एक विशेष प्रकार की ध्यान–साधना का अभ्यास आरंभ करने वाले थे, जिसका वर्तमान में शायद वे 'आध्यात्मिक पुनर्जन्म' इस शिर्षक के अंतर्गत समावेश करें। वह अभ्यास था आर्यतारा की साधना का और जिसकी दिक्षा उन्हें महान तिब्बती गुरू चेतुल सेंगे दोर्जे से प्राप्त होने वाली थी। निश्चित ही नागपूर में उनका आगमन हुआ था मुंबई से, जहाँ वह अपने एक विचित्र मित्र, डॉ दिनशॉ मेहता के घर रूके हुए थे और जिनके साथ के संबंध को वह थोडा महत्व भी देते थे क्योंकि डॉ मेहता इस बात पर जोर दिया करते थे कि उन्हें आत्म–भाव से परें के स्त्रोंतो द्वारा 'मार्गदर्शन' प्राप्त होता है – भले ही संघरक्षित ने कभी भी इस बात को स्वीकार नहीं किया कि डॉ मेहता को स्वयं प्राप्त होने वाला वह मार्गदर्शन निश्चित तौर पर वैसा ही था जैसा कि वह उनसे कहते थे। चाहे जो भी हो, इस संबंध द्वारा उनके अपने ध्यान एवं आध्यात्मिक अनुभव को फायदा ही हुआ था।

निश्चित रुप से, ध्यान सर्व साधारण जागृती रखने एवं शीलाचरण का ही भाग था, और इन दोनों ही बातों पर उन्होंने काफी जोर दिया था। साथ ही उन्होंने नियमित रुप से अपने आपको इन बातों में व्यस्त रखा था जैसे भक्ति भाव से पूर्ण अभ्यास, पूजा स्थान का रख–रखाव एवं पूजा का पठन, बुद्ध के प्रति कृतज्ञता की सशक्त भावनाओं का विकास करना एवं उन्हें अभिव्यक्त करना, उनके धम्म में श्रद्धा रखना एवं उनके बताये मार्ग के प्रति प्रतिज्ञाबद्धता। इसी दौरान उन्होंने सौंदर्य ग्रहण करने के अपने गुण का भी विकास किया था, विशेष रुप से काव्य के वाचन एवं लेखन के माध्यम से, साथ ही जितना उनसे संभव हो सकता था उतना अपने आप को कला एवं साहित्य के सानिध्य में रखते हुए, हिमालय पर्वत के चरणों में, जहाँ वह अपना जीवन व्यतीत कर रहें थे। कुल मिलाकर, ऐसा कहा जा सकता है

16

कि जागृतीपूर्वक किए गए धम्म–आचरण के माध्यम से स्वयं मे परिवर्तन लाने के प्रत्यक्ष प्रयत्नों के संदर्भ में, उनका त्रिरत्नों के प्रति शरण–गमण अधिक से अधिक परिणामकारक हो चुका था। तद्नुसार, इसके विषय में ऐसा कहा जा सकता है कि यह परिस्थितीयों का वह पहला संच है जिसके आधार पर नागपूर में आत्म–भाव से परे उठने वाला वह अनुभव उत्पन्न हुआ था।

परिस्थितीयों के एक अन्य संच को हम अलग कर सकते है जो कि पहले संच का ही स्वाभाविक विस्तार है। एकतीस–वर्ष–की–आयु के संघरक्षित का जब उस दुर्भाग्यपूर्ण सुबह को नागपूर में आगमन हुआ था तब वह विगत छह वर्षों से उत्साह के साथ धम्म की सेवा कर रहे थे, जबसे उनके गुरू जगदीश काश्यप ने कलींगपाँग में उन्हें यह निर्देश देकर उनसे विदा ली थी कि, 'यहाँ रहो और बौद्ध–धर्म के भले के लिए कार्य करो'। कई अडचनों को पार करते हुए, जो प्रमुख रुप से उनके साथी बौद्धों द्वारा उनके मार्ग में खड़ी की गई थी, उन्होंने एक धम्म–केंद्र स्थापित किया था, त्रियान वर्धन विहार। इसके अलावा धम्म की सेवा हेतु वे अपने आपको साहित्यिक कार्यों में भी व्यस्त रखते थे, जिसमें शामिल थी उनकी अपनी प्रासंगिक पत्रिका *स्टेपिंग स्टोन्स्* एवं *महा बोधि* नियतकालिका का संपादकीय कार्य और इन दोनों ही पत्रिकाओं में उन्होंने अनेक लेखों तथा अन्य साहित्य के रुप में अपना योगदान दिया था। और उन्होंने डॉ. आंबेकर के दलित अनुयायियों के लिए प्रवचन दौरे भी आरंभ कर दिये थे जो प्रमुख रुप से महाराष्ट्र राज्य में होते थे। इन सब बातों के अलावा उनकी स्मरणिकाओं से यह भी पता चलता है कि काफी लोगों से वह दोस्ताना मेलजोल रखते थे और साथ ही जितनी संख्या में उनसे संभव हो सकता था उतने लोगो को वह धम्म–आचरण हेतु एकत्रित भी लाते, जैसे कि आचार्य असंग ने, '*बोधिसत्व भूमी* ' में बोधिसत्वों के 'एकत्रित आने के कार्य' को 'गण–परिग्रह'[17] कहकर संबोधित किया है। उन्होंने अपनी जान–पहचान के लोगों का एक जाल बुनने की शुरूवात कर दी थी जो कि उनके शिष्य–संघ का बीज था – त्रिरत्न बौद्ध महासंघ और सहायक गण के पूर्वारंभ का सूचक।

एक तिसरे तत्व ने उनके तीव्र स्वरुप के व्यक्तिगत धम्म–आचरण एवं धम्म–सेवा को सहायता प्रदान की। कई सालो से वह अत्यंत अनुशासित धम्म–जीवन पद्धती जी रहे थे जो वैराग्य पर आधारित थी। जैसे ही ब्रिटिश सैन्यदल से विदा लेना उनके लिए संभव हुआ (निश्चित ही, उनकी अधिकृत सेवा निवृत्ती से कुछ समय पूर्व ही) वह ऐसी परिस्थितियों की खोज में निकल पड़े थे जो उनकी धम्म के प्रती प्रतिज्ञाबद्धता को व्यक्त होने देती। कुछ समय तक वह एक अनागारिक की तरह रहें, एक बेघर घुम्मकड़ (बंजारे) जैसे, और 1947 में उन्होंने श्रामणेर की दिक्षा ग्रहण की और फिर 1950 में भिक्षु की दिक्षा ली। इस समय तक जितना उनसे संभव हो सका, उन्होंने भिक्षु जीवन के अनिवार्य नियमों का पालन किया। यहाँ तक की उन्होंने परंपरागत रुप की भिक्षाटन के लिए जाना भी आरंभ कर दिया था, जिससे कलिंगपाँग के बौद्धों को विस्मय एवं आनंद होता। कलिंगपाँग हिमालय का वह छोटासा शहर है जहाँ संघरक्षित उस वक्त रहते थे। उन्होंने धीरे धीरे अपने लिए ऐसे जीवन का निर्माण किया जिसने उन्हें जितना पूर्ण रुप से हो सकता था उतना धम्म आचरण करने के लिए की सक्षमता प्रदान की। सबसे बढ़कर वह वैराग्य पर आधारित जीवन पद्धती थी और वह बहुत ही सादगी से जीवन गुजार रहे थे, कम से कम संसाधनो के साथ, कभी कभी तो उनके पास उतने ही पैसे होते थे जो सिर्फ किराया चुकाने कि लिए ही पर्याप्त होते थे।

जब उनका नागपूर में आगमन हुआ परिस्थितियों के यह तीन संच उपस्थित थे : उनका तीव्र धम्म–आचरण, उनकी धम्म सेवा विशेषतः लोगों के साथ उनके सक्रिय गठबंधन में माध्यम से, और वैराग्य पर आधारित उनकी धम्म–जीवन पद्धती। रेलगाडी से नीचे उतरने के कुछ की समय पश्चात

17

उन्हें ज्ञात हुआ कि पिछली रात को ही डॉ. आंबेडकर का निधन हो चुका था और उसी क्षण उन्हें उनके अनुयायियों के ऊपर आयी दुःखद विपत्ती की प्रचुरता का आभास हुआ, विशेष रुप से उस शहर में जहाँ कुछ ही समय पूर्व कितनी ही आशा और प्रेरणा के साथ धर्मांतरण हुआ था। कितने ही हजारों या शायद लाखों लोगो की जरूरत की जो तीव्रता थी उसने उन्हें सहज ही उनके स्वयं के दायरें से परें खींच लिया। ऐसा कहा जा सकता है कि विपत्ती की उस घड़ी में लोगों की भीड़ को संबोधित करने के कार्य के लिए उनके अपने साधन अपर्याप्त थे। परंतु कोई अन्य बात आ पहुँची और उन्होंने अपने आप को उस 'अ–व्यक्तिगत उर्जा' का वाहन बन जाने दिया – या फिर बाद में एवं और बेहतर रुप से जिसे उन्होंने इस तरह रखा, 'एक परा–व्यक्तिगत उर्जा या शक्ति' जिसने उनके माध्यम से कार्य किया।

इन तीन प्रमुख तत्वों को उनके जीवन और कार्य में निरंतर देखा जा सकता है – और सचमुच गुजरते वक्त के साथ वह और भी संपूर्ण और स्पष्ट रुप से अभिव्यक्त हुई है। और इसी कारणवश त्रिरत्न बौद्ध महासंघ की स्थापना संघरक्षित 'के माध्यम से' हुई और उन्हीं की प्रेरणा से वह वृद्धींगत हुआ और फूला–फला।

आत्म के बंधन

परिस्थितीयों के यह तीन संच धम्म–आचरण, धम्म–सेवा एवं धम्म–जीवन पद्धती, धर्म–नियम प्रक्रियाओं के व्यक्ति के माध्यम से कार्यान्वित होने में किस प्रकार से योगदान देते है? इस बात को अधिक स्पष्ट रुप से समझने के लिए आवश्यक है कि हम इस बात का और आगे विश्लेषण करें कि वह क्या है जिसके परे जाने की आवश्यकता है, क्योंकि कोई ऐसा कह सकता है कि मूल मुद्दा यह नहीं है कि इन प्रक्रियाओं को अपने माध्यम से कार्यान्वित किया जाए – बल्कि यह है कि किस प्रकार से हम उनकी राह से परें हट जाए। जो बात धम्म को हमारे माध्यम से अभिव्यक्त होने से रोकती है वह है हमारी आत्म–आसक्ति और धम्म–आचरण का पहला उद्देश्य ही यह है कि वह आत्म–भाव के सच्चे स्वभाव को पहचाने और उससे ऊपर उठें।

सर्व–साधारण जागृती (चेतना) की मूल रचना ही आत्म पर केंद्रीत होती है। वह केवल आत्म पर केंद्रीत ही नहीं रहती बल्कि आत्म की जिवित रहने की, उन्नती करने की एवं चिरस्थायी बने रहने की जरूरत ही उसकी कार्यान्वितता के कारण होते है। परंतु आत्म का ख़याल एक संस्कार है। वह हमारे समक्ष इसलिए उपस्थित होता है ताकि हम ऐसे स्थिर एवं सनातन सत्य की ओर निर्देश कर सके की हमारे आकलन एवं कार्यों पर इसका स्वामीत्व है, परंतु यह निर्देश जिसकी ओर किया जा रहा है वह ऐसा है जिसकी खोज कर पाना असंभव है। हमारी मानसिक प्रक्रियाँए हमारे अनुभवों के गडबड घोटाले में से हमारे काम आने वाली जो कल्पनाए या सर्वसाधारण अनुमान निर्माण करती है उन सब में आत्म की कल्पना सबसे प्रबल है।

अपने जीवन की सुरक्षा के दृष्टीकोण से अपने अनुभवों को इस प्रकार क्रमबद्ध रुप से घटाना आवश्यक भी है। अनुभवों को विश्लेषणात्मक सरल स्वरुप देने की इस क्षमता के बिना हमारे लिए यह असंभव हो जाएगा कि जिसका हमें आकलन हुआ है उस पर प्रक्रिया कर सके और हम कभी भी उसके लिए परिणामकारक प्रत्युत्तर निर्धारित नहीं कर पायेंगे। परंतु हमारे आकलन के घोटाले को क्रमबद्ध करने के पश्चात, अर्ध–चेतन स्तर पर हम यह मान लेते है कि इन अनुमानों (कल्पनाओं) की एक वास्तविकता है जो उस परिस्थिती से स्वतंत्र है जिनमें उनका आकलन किया गया हो और ऐसे अनुमान के आधार पर हम हमारे जीवन की रचना करते है। विशिष्ट रुप से, बिना सोच विचार के, हम अपने इस अहसास के

साथ कार्य करने लगते है कि एक वास्तविक और सनातन आत्म है जिसका 'उसके अपने ही ढंग में' अस्तित्व है और वो ही हमारे अनुभवों एवं कर्मों का स्वामी है। हमारे अधिकतर दैनंदिन व्यवहारों के लिए यह नुकसानदेह नहीं है। परंतु बुद्ध के अनुसार हमारे सर्वसाधारण दुखों का यहीं प्रमुख स्त्रोत है और साथ ही हमारी आधारभूत संतुष्टी के आभाव का भी।

बौद्ध परंपरा इस मूलभूत आत्म–केंद्रीयकरण का संबंध पिछले जन्मों से आयी हुई आदतों के साथ जोड़ती है – वास्तविक आत्म से आसक्ति के विषय में ही यह कहा जा सकता है कि वह पुनर्जन्म की प्रक्रिया को चलाती रहती है। निश्चित ही, यह बात इसका कोई स्पष्टीकरण नहीं देती कि उस आत्म–आसक्ति का अस्तित्व सर्वप्रथम किस प्रकार निर्माण हुआ। यद्यपि, इसके लिए, व्यक्ति उत्क्रांति के उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण देने का धैर्य कर सकता है। जैसे जैसे नैसर्गिक चुनाव पद्धती के माध्यम से प्रजातियाँ उत्क्रांत हुई, ऐसे समय में जीवों के अपने वातावरण के अनुसार ढलने में योग्य होने के संदर्भ में एक ऐसी जागृती के होने के, जो अपने और अन्य जीवों में के भेद को पहचान सके, अपने फायदे थे। अपने आप को पहचानने की उसी क्षमता से, या उसी के साथ ही, समय की समझ भी निर्माण हुई और इसी कारणवश सिखने एवं नियोजन करने की क्षमता भी निर्माण हुई – यह सारी ही बाते उस जीव के अपने जीवन के संरक्षण के लिए उपयोगी थी। इस आत्म–जागृती के माध्यम से संभव हो सके ज्ञान के संग्रह और इस संग्रहित ज्ञान के, संस्कृतीयों द्वारा, एकत्रित वितरण (सबको सहभागी करने) से होमो–सेपियन्स् (मानव प्रजाती) की उत्क्रांत क्षमता में काफी वृद्धी हुई है। यह ऐसी एकमात्र प्रजाती है जिसके बारे में हमें ज्ञात है कि इसके पास सही मायने में जिसे स्व–नियंत्रण रहित परावर्तक चेतना (Reflexive Consciousness) कहा जा सकता है, ऐसी चेतना है।

इस दृष्टीकोण से, हमारी आत्म–चेतना जीवों के जीवन को सुरक्षा प्रदान करने वाले औजार के रुप में उत्क्रांत हुई क्योंकि इसी की वजह से मनुष्य को वातावरणों की अत्यंत विस्तृत श्रेणी के अनुरुप ढलने योग्य बनने का अवसर प्राप्त हुआ और यह भी कि वह अपनी परिस्थितियों को अपने अनुरुप ढाल सके। आत्म की कल्पना जीवों के जीवित रहने एवं उन्नती करने की सबसे गहरी एवं आदिकालिन अंतप्रेरणाओं के साथ इतनी जटीलता से जुड़ी हुई है कि उसे विभक्त करना संभव नहीं। इन अंतप्रेरणाओं से ही वह उत्पन्न होती है और उनका संरक्षण करना ही उसका मकसद है।

अंतिम विश्लेषण में, इससे कोई अंतर नहीं पड़ता कि हम इसे किस नजरिए से देखते हैः बुद्ध ने बौद्धों को यह आज्ञा दी है कि वह उत्पत्ती जैसे विषयों की चिंता ना करे और विशेष रुप से ऐसे विषयों कि जो हमारे मूल विषय से हमारा ध्यान भटकाती हो, जो विषय है हमारी गहरी समस्याओं का समाधान। इस समस्या का मूल स्त्रोत चाहे जो भी हो, सच्चाई तो यहीं है कि एक स्वतंत्र और सनातन आत्म की सशक्त भावना हमारे भीतर होती ही है जिससे अत्यंत गहराई से एवं आदिकालीन समय से हम आसक्त है। और यह आत्म–आसक्ति आज नहीं तो कल समस्या बन जाती है। यह समस्या इसलिए है क्योंकि यह हमें सच्चाई के ही विपरीत ले जाती है – सच्चाई जो निरंतर निराशाजनक, डरावनी और अंत में आत्म–पहचान को ही नष्ट करने वाली होती है – और वास्तविक यह आत्म–आसक्ति ही है जो सारे सामाजिक कलह और हिंसा का मूल आधार है। वास्तविकता के साथ यह स्वाभाविक कलह एक असुरक्षितता या फिर डर की गहरी भावना का पोषण करता है, जो उस वक्त काफी बढ़ जाती है जब हम अपने अस्तित्व के वास्तविक स्वरुप से सामना टाल नहीं पाते। यह संपूर्ण अस्तित्व ऐसा प्रतित हो सकता है कि मानो जैसे यह दुखों के मध्य में उस जीवन को जीते रहने का व्यर्थ प्रयास है जिसे अंत में अपरिहार्य रुप से विलुप्त ही होना है। यह ऐसा है कि आत्म–जागृती का जितना अधिक विकास होता है यह जीवन उतना ही अधिक निरर्थक और कष्टप्रद बनता जाता है।

बौद्ध दृष्टीकोण यह है कि, यह आत्म–आसक्ति ना केवल हमारे हर स्तर के दुखों का मूलाधार है बल्कि यह हमें एक बेहद अलग प्रकार की चेतना के संपर्क में आने से भी रोकती है, ऐसी चेतना के जो आत्म–आसक्ति पर आधारित ना होकर अंतकरणपूर्वक कार्यकारण भाव के मूल सिद्धांत को अपनाती है। इस अलग प्रकार की चेतना से हमारा पहला परिचय उन क्षणों में होता है जब हम मैत्री, सौंदर्य, नैतिक आदर्श, समझदारी या उत्स्फूर्त रहस्यमय ढंग से आत्म–आसक्ति से परे उठने जैसे गुणों के माध्यम से आपसी भेद एवं संघर्षों से ऊपर उठ जाते है। इन 'अमरत्व के अप्रत्यक्ष सूझावों' में हम हमारी रोज मर्रा की चेतना की अपरिपूर्णता तथा उसके मूल एवं आधारभूत असत्य – *दुःख* से अवगत हो जाते है।

जितना यह कहने के लिए सरल है या शायद देखने के लिए भी कि आत्म–आसक्ति हमें सिमित करती है, उतना ही मुश्किल है स्वयं को इसके बंधन से मुक्त कर पाना। ऐसा इसलिए है क्योंकि इसकी जड़े हमारी चेतना के दायरें से भी कहीं अधिक गहरी होती है। आत्म–चेतना के उत्पत्ती–स्त्रोत के उत्क्रांति दृष्टीकोण का महत्व इसलिए है क्योंकि वह इसके अंतप्रेरणा के आधार पर कार्य करने के गुण पर जोर देता है, जिस गुण को सर्व साधारण जीवन में आसानी से नकाब के पिछे छुपाया जा सकता है। एक मानसिक रुप से स्वस्थ व्यक्ति जो भावनात्मक रुप से भी सकारात्मक हो उसे शायद ही कभी अपने आत्म–केंद्रीत होने का अनुभव आता हो, खार तौर पर अगर वह किन्हीं ऐसी परिस्थितियों में रहने वाला हो जहाँ पर आर्थिक विपुलता एवं राजनैतिक स्थिरता है। एक स्वस्थ व्यक्ति अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को औरों की आवश्यकतानुसार परिवर्तित कर लेता है ताकि वहाँ थोडा या बिल्कुल भी कलह ना रहें। इन परिस्थितियों के अंतर्गत उसके लिए यह संभव हो जाता है कि वह उसे असमंजस में डालने वाली अपनी मूलभूत आत्म–आसक्ति का किसी भी प्रकार से सामना किए बिना एक सौजन्यपूर्ण एवं शांत जीवन का आनंद ले सकता है। वह अपने मित्रों एवं पडोसियों के प्रति उदार तथा उनके सहवास का आनंद लेने वाला हो सकता है, वह अपने परिवार की प्यार से देखभाल कर सकता है और अपने काम या परोपकारी कार्य के माध्यम से सामाजिक दायित्वों के वहन में योगदान दे सकता है – और फिर भी, उसकी जड़ों में गहरी एवं सशक्त आत्म–आसक्ति प्रबल हो सकती है, जो उस वक्त प्रत्यक्ष होती है जब उसके सुख एवं सुरक्षा पर गंभीर विपत्ती आ पडती है।

हम इस मूलभूत आत्म–आसक्ति को अधिक आसानी से तब पहचान सकते है जब वह अपने आपको इस रुप में प्रकट करती है जैसे कि दुखद मानसिक अवस्था या फिर सामाजिक स्वास्थ के लिए घातक ऐसे व्यवहार के रुप में, जैसे कि शब्दों या काया के माध्यम से औरों के प्रती की गई हिंसा या फिर दूसरों के संसाधनों का अनुचित उपयोग करना। मूलभूत बौद्ध शिक्षा के अनुसार, लोभ और द्वेष अपने सारे रुपों में, चाहे वह शुद्ध हो या अशुद्ध, खुले आम दी जाने वाली अहंकारयुक्त प्रतिक्रियाओं की प्राथमिक श्रेणी में सम्मिलित है, जिनके साथ ही समाविष्ट है मोह अर्थात हर उस बात को अपनी चेतना के समक्ष आने से रोकना जो हमारी पहचान को भयभीत करें।

हमारी आत्म–केंद्रीयता इतनी गहरी है कि वह उस पद्धती में ही रच–बस गई है जिसका उपयोग हम अपने अनुभवों को क्रमबद्ध करने के लिए करते है। हम दुनियाँ को बिलकुल इस तरह देखते है कि वह हमारे इर्द गिर्द ही रचित है, उसका विश्लेषण भी हमारे ही दृष्टीकोण से होता है। इस वक्त मै अपने दृष्टीकोण से लिख रहा हूँ : आप अपने दृष्टीकोण से पढ़ रहे है। इस संपूर्ण रुप से अंतप्रेरित एवं स्वाभाविक आत्म–केंद्रीयकरण से ऊपर उठना ही धम्म–जीवन का कार्य है।

बंधनों को खोलना

तदोपरांत हम इस बात की ओर लौट आते है कि कैसे धम्म–आचरण, धम्म–सेवा एवं धम्म–जीवन पद्धती वह परिस्थितियाँ उपलब्ध कराती है जो इस गहरी अंतप्रेरित आदत को तोड़ दे। इस आधार पर हम यह देख सकते है कि हर एक शिर्षक के अंतर्गत संघरक्षित वर्तमान में अपने शिष्यों के लिए किस बात की सिफरिश करते है।

धम्म–आचरण से बंधनों को खोलना

औपचारिक धम्म–आचरण के सारे ही स्वरुपों में, व्यक्ति की इच्छाओं के प्रवाह तथा उसके शब्दों एवं कर्मो के माध्यम से हाने वाली अभिव्यक्ति में चेतन एवं क्रमबद्ध रुप से परिवर्तन को लाने का समावेश होता है। विभिन्न श्रेणी के शिर्षकों के अंतर्गत, जीवन के कई अंगो में तथा विभिन्न उपायों एवं शिक्षाओं की विस्तृत श्रेणी के माध्यम से, व्यक्ति अधिक कुशल प्रवृत्तीयों एवं सुस्पष्ट चेतना का विकास करता है। तब कर्म संसकारितता के अनुरुप ऐसी मानसिक अवस्थाए उत्पन्न होती है, जिसमें आत्म–आसक्ति ढ़िली पड चुकी होती है। ऐसी अवस्थाए अपने विकास के क्रम में अधिक लचीली, पूरे चित्र को ग्रहण करने एवं आत्म की जरूरतों के परे की जरूरतों को प्रत्युत्तर देने में भी सक्षम होती है। ऐसा मन कम से कम प्रतिक्रियात्मक और अपने आप को अधिक से अधिक उत्स्फूर्त रुप से मैत्री, करुणा और मुदिता से भर लेने वाला होता है। अपने से परे जो स्थित है उसके प्रती श्रद्धा की सशक्त भावना से व्यक्ति भाव–विभोर हो जाता है। आचरण की यह अवस्था, कर्म संस्कारितता के अनुरुप कार्यान्वितता की, *समथा* के विकास के शिर्षक अंतर्गत आती है।

कर्म संस्कारितता के आधार पर विकसित होती इस परिशुद्धता एवं सकारात्मकता के बावजूद, आत्म–आसक्ति की आधारभूत मूल संरचना, फिर भी शेष रह जाती है। और उसे नष्ट करने के लिए और भी किसी चीज की आवश्यकता होती है ताकि *धर्म–नियम* आधारित प्रक्रियाओं को प्रकट किया जा सके। हमें आवश्यकता होती है जागृती पूर्वक *विपश्यना* का विकास करने की, आत्म के अहसास की अवास्तविकता की अंतर्दृष्टी तथा उस दुःख की भी जो हमारे उससे आसक्त होने से अनिवार्य रुप से आता है। उसी समय, उसके उपरांत जो भी उत्पन्न होता है उसके अनुरुप हमें खुद को ढालना होता है ताकि आल्हादपूर्वक हम धम्म को अपने माध्यम से कार्यान्वित होने का अवसर प्रदान कर सके।

धम्म–आचरण परिणामकारक रुप से जो कार्य करता है वह यह है कि वह उस प्रक्रिया को ही उलट देता है जिसकी वजह से आत्म–आसक्ति अपने आपको हमारी मानसिक क्रियाओं एवं आचरण में अभिव्यक्त करती है। यहाँ कारणों की एक श्रृंखला उपस्थित होती है जिसका आरंभ अंतप्रेरित आत्म–आसक्ति की जटीलता से होता है जो मन की आधारभूत रचना के रुप में गहरे दफन होती है। यह फिर हमारे मन की कार्य प्रणाली को आकार देना आरंभ कर देती है इस तरह की जो भी अवस्थाए उत्पन्न हो वह उसी के स्वार्थ की सेवा में हो। यहीं मानसिक अवस्थाए फिर हमारे कर्मों को गती देती है। इस तरह यहाँ एक गतीविधी मौजूद है अज्ञानयुक्त आत्म–आसक्ति की मूलभूत रचना से, जिसे की बौद्ध धर्म में अनेक प्रकार से जाना जाता है, उदाहरणार्थ, जैसे अविद्या, आश्रव या अनुसया, उस कायिक या वाचिक आचरण तक, जो उस आत्म–आसक्ति को अभिव्यक्त करता है।

हमारा धम्म–आचरण हमें इसकी विपरीत दिशा में ले जाता है, *शील, समाधी* और *प्रज्ञा* के क्रमबद्ध मार्ग से। पहले हम अपने आचरण को *शील* की कसौटी पर जाँचते है, यह प्रयास करते है कि वह उसके अनुरुप हो। इससे कर्म संस्कारितता के अंतर्गत, जिस प्रकार से हमारी मानसिक अवस्थाए उत्पन्न होती है उसमें बदलाव आता है ताकि वह हमारे लिए सुस्पष्ट एवं एकरुप हो और ऐसा होने की वजह से वह हमारे चेतन प्रभाव के अनुरुप ढलने के हेतु अधिक खुली होती है। तब हम अधिक सफलता के साथ *समाधी* का अभ्यास कर सकते है, प्रत्यक्ष रुप से मन के कुशल भावों का विकास कर सकते है और इस

प्रकार नई मानसिक अवस्थाओं को निर्मित कर सकते है, उन कर्मो की सहायता से, जिन्हें अधिक कुशलतापूर्वक बुना गया हो, जो चीजों के वास्तविक स्वरुप के साथ अधिक से अधिक समस्वरित हो। इस आधार पर, हम अधिक सफलता पूर्वक प्रज्ञा का अभ्यास कर सकते है ताकि हम निर्णायक रुप से आत्म–आसक्ति की आधारभूत प्रवृत्तीयों के आर पार देख सके, पहचान सके कि यह निश्चित तौर पर एक अपरिपूर्ण कल्पना है जिसकी कोई मूल वास्तविकता नहीं है। तब हम क्रमशः अपने जीवन से उसकी अभिव्यक्ति के हर निशान को मिटा सकेंगे।

त्रिरत्न बौद्ध महासंघ में इसे परिणामकारक रुप से किस तरह शामिल किया जाए, इस विषय में संघरक्षित क्या सिफारिश करते है? मेरे हाल ही के लेखों में मैने इस बात को प्रस्तुत किया है कि त्रिरत्न समुदाय में धम्म–आचरण के विषय पर उनके वर्तमान विचार क्या है, जिसे मैने मेरी उनके साथ हुई चर्चाओं के आधार पर व्यक्त किया है, और यहाँ इसके अधिक विश्लेषण की आवश्यकता नहीं।[18] शायद इतना ही पर्याप्त होगा की हम उनकी आध्यात्मिक–जीवन की आचरण प्रणाली का स्मरण रखें जिसमें पाँच तत्वों के क्षितिज समांतर (horizontal) एवं उर्ध्वगामी (vertical) एकत्रिकरण करने का समावेश है, और जो यह प्रणाली करती भी है। वह पाँच तत्व है : एकीकृतता, साकारात्मक भावना, आध्यात्मिक ग्रहणशीलता, आध्यात्मिक मृत्यु एवं आध्यात्मिक पुनर्जन्म।

इस प्रणाली के माध्यम से, विकसित होते होते हमारा धम्म–आचरण हमें आत्म–आसक्ति के परे ले जाएगा और उस 'परा–व्यक्तिगत उर्जा या शक्ति' को हमारे माध्यम से भी कार्यान्वित होने का अवसर प्रदान होगा। हमारे लिए केवल यह तसल्ली कर लेना आवश्यक है कि इस प्रणाली को विस्तृत रुप से तथा अच्छी तरह समझा जाए और उन सारे लोगों को, जो अपने आप को त्रिरत्न बौद्ध महासंघ में सम्मिलित करते है, इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाए कि वह प्रत्यक्ष और योग्य रिती अनुसार इस प्रणाली को आचरण में लाए। विशेष रुप से हमें इस बात की निश्चिती करने की आवश्यकता है कि जिनकी दिक्षा हो चुकी है वह आध्यात्मिक मृत्यू एवं पुनर्जन्म के आयामों पर कार्य करने हेतु प्रतिज्ञाबद्ध है जो कि कर्म से धर्म संस्कारितता के स्थित्यांतरण को तय करता है।

धम्म–सेवा के माध्यम से बंधनो को खोलना

कोई ऐसा भी सोच सकता है कि आत्म के बंधनों को तोड़ने के लिए धम्म–आचरण ही पर्याप्त था – और वास्तव में ऐसा हो भी सकता है, अगर उसे पर्याप्त गहराई से समझा गया हो तथा पर्याप्त तीव्रता से उसका अभ्यास किया गया हो। समस्या यह है कि व्यक्ति का धम्म–आचरण केवल उसकी अधारभूत आत्म–आसक्ति की सूक्ष्म अभिव्यक्ति भी बन सकता है। व्यक्ति अपने लिए एक प्रकार की व्यक्तिगत दुनियाँ का निर्माण कर सकता है, जो कि शायद अत्यंत ऊँचाई, सौंदर्य, और पावित्र्य, और संभवतः कुछ हद तक समझदारी से भी युक्त हो सकती है। फिर भी उसकी इस दुनियाँ की सीमाए काफी मर्यादित हो सकती है और ऐसा इसलिए क्योंकि यह परिशुद्ध आत्म–पहचान की अभिव्यक्ति तो हो सकती है, परंतु उससे परें जाने की नहीं। दुर्भाग्यवश, 'आध्यात्मिक लोग' जो इस प्रकार की दुनियाँ में निवास करते है, उन्हें लोग इस बात के आदर्श के रुप में देखते है कि धार्मिक जीवन किस प्रकार का होना चाहिए, यहाँ तक कि ऐसे लोग उनके धम्म–जीवन के भी आदर्श होते है।

आत्म–आधारित चेतना की संरचना को तोडकर बाहर आने के लिए औपचारिक धम्म–आचरण निश्चित ही आवश्यक परिस्थिती है, परंतु सिर्फ यहीं परिस्थिती पर्याप्त नहीं। यह संरचना, अंतिमतः, स्वाभाविक

18

रुप से ही बचावात्मक है और इसका कार्य ही यह है, कि अपने आपको चिरस्थायीत्व प्रदान करना। जैसे ही इसके सुरक्षा घेरे को कोई भेदता है, तत्क्षण एक नई सीमारेखा सुदृढ़ हो जाती है। यह बात विलक्षण है कि कितनी तत्परता एवं परिणामकारक रुप से यह प्रणाली कार्य करती है : कभी कभी निरिक्षण करने वाले व्यक्ति को यह स्पष्ट रुप से नजर आती है परंतु जिस व्यक्ति से इसका संबंध होता है उसके लिए इसे पहचान पाना उतना सरल नहीं होता। तद्नुसार, एक अन्य तत्व की आवश्यकता है जो उस अंतप्रेरित सुरक्षा प्रणाली को रोके, जो प्रणाली हमारे औपचारिक धम्म–आचरण के दौरान भी कार्यरत रहती है।

हमें अपने आपको किसी ऐसी चीज के साथ गठबंधीत करने की आवश्यकता होती है जो हमारे स्वयं से परे जाकर हमारी आत्म–आसक्ति से ऊपर उठने की दिशा में हमारा मार्गदर्शन करें। निश्चित ही यह औपचारिक धम्म–आचरण का ही भाग होना चाहिए। संघरक्षित की आचरण–प्रणाली में 'आध्यात्मिक पुनर्जन्म' वह शिर्षक है जिसके अंतर्गत इस तरह का अभ्यास मिलता है : बुद्धों एवं बोधिसत्वों का स्मरण तथा उनके गुणों पर चिंतन अथवा ध्यान का अभ्यास। परंतु, बहुत ही थोडे लोग इस माध्यम से अहं–से–परे के उस विस्तार से अपने आपको ऐसी तीव्रता से जोड़ पाते है कि वह उन्हें स्वयं को निचोडकर खुद को अपने से बाहर ला सकें। ऐसा ध्यान या चिंतन अपने आप ही अत्यंत सरलतापूर्वक सौंदर्य लोलुप्ता का विषय बन जाता है, या अत्यंत ही बुरी परिस्थिती में अंधश्रद्धा से युक्त पलायन का प्रकार।

व्यक्ति को अपनी आत्म–आसक्ति को बहुत ही व्यवहारिक एवं वस्तुनिष्ठ तरिकें से छोड़ने की आवश्यकता होती है। रोज की गतीविधियों से यह प्रकट होना आवश्यक है कि वह अपने आप को अपने से अधिक के समक्ष समर्पित कर रहा है। वह जो भी करता है उसमें गहरा अर्थ होना ही चाहिए और उसे किसी बड़े या महान उद्देश की सेवा में होना चाहिए।

धम्म की सेवा करना, फिर इसका क्या तात्पर्य हो सकता है? इसका अर्थ है अपने आपको ऐसे कार्य से जोड़ लेना जो इस विश्व के अंदर उस परा–व्यक्तिगत उर्जा या बोधिचित्त की उर्जा के उत्पन्न होने में योगदान देता है, सर्व दुखों के अंतिम समाधान की संभावना को निर्माण करता है। वह केवल किसी कल्पना की सेवा नहीं कर रहा है बल्कि जीवन के भीतर जो उच्चतम क्षमता है वह उसकी सेवा है। वह जो भी करेगा, चाहे वह प्रत्यक्ष रुप से धम्म की शिक्षा देना हो, धम्म कार्य के लिए अर्थार्जन करना हो या फिर अन्य किसी प्रकार से इसके लिए व्यवहारिक साधन उपलब्ध कराने जैसा कोई कार्य हो, या फिर पारंपारिक पद्धती का दूसरों को दुखों से उभारने हेतु किया गया परोपकारी कार्य हो, वह उस कार्य के माध्यम से धर्म–नियम प्रक्रियाओं को सक्रिय करने का यत्न करता रहेगा।

धम्म–सेवा का विश्लेषण हमें अत्याधिक कल्पक पद्धती से नहीं करना चाहिए। धम्म–सेवा करने का अर्थ हमेशा यही होता है कि लोगों की सेवा करना, क्योंकि लोगों सें जुदा हो ऐसा कोई धम्म है ही नहीं। वह धम्म–प्रवाह जो एकबार हमारी आध्यात्मिक मृत्यु होने के उपरांत पुनर्जन्म होने पर प्रवाहित होने लगता है, वह होता है परस्परावलंबी एवं निस्वार्थ मानसिक अवस्थाओं की एक श्रृंखला का, जो मानसिक अवस्थाए सजीव प्राणियों की जरूरतों को अपने दायरें में लाकर उन्हें प्रत्युत्तर देती है। धम्म स्वाभाविक रुप से ही करुणार्द्र होता है।

जैसे सारी धम्म–सेवा अंतिम रुप से लोगों की ही सेवा होती है, वैसे अन्य लोगों की हर तरह से की गई सेवा धम्म–सेवा नहीं होती। इस मुद्दे को स्पष्ट करना मुश्किल है, क्योंकि एक ही प्रकार के कार्यो का संच धम्म–सेवा कहला भी सकता है और नहीं भी : दूसरे शब्दों में, यह अपनी अपनी मनोवृत्ती एवं नज़रिए का सवाल है। उदाहरण के तौर पर, अच्छे माता–पिता अपने बच्चों की जरूरतों को पूरा करने

हेतु अपनी तात्कालिक जरूरतों का बलिदान दे देते है – भारत में मैं ऐसे माता–पिता को जानता हूँ जिन्होंने अपने आपको भरपेट भोजन से इसलिए वंचित रखा ताकि उनके बच्चे भरपेट खा सके और अच्छी शिक्षा प्राप्त कर सकें। किसी भी कसौटी के आधार पर, ऐसा व्यवहार बेहद प्रशंसनीय है। वास्तविक यह एक प्रामाणिक आत्म–भाव विरहितता का प्रतिनिधित्व भी हो सकता है। परंतु अधिकतर, और पूरी इमानदारी से कहा जाए तो, यह एक प्रकार का आत्म–स्वार्थ ही है, क्योंकि व्यक्ति अपने बच्चों को अपनी खुद की पहचान के ही अंतर्गत लाता है – इस तरह का त्याग कोई दूसरों के बच्चों के लिए शायद ही कभी करें।

अधिकतर परोपकारी कार्य दूसरों के दुखों को अपना दुख समझने की तथा अपने आपको उनके स्थान पर रखकर देखने की कल्पना से उत्पन्न होते है। धम्म की दृष्टी से औरों के प्रति अपनी सहानुभूति के इस प्रकार से किए जाने वाले सकारात्मक विस्तार को काफी प्रोत्साहित किया जाना चाहिए, इसलिए भी क्योंकि दूसरों की जरूरतों पर उसका प्रत्यक्ष परिणाम होता है और इस कारण भी क्योंकि कर्ता पर भी उस कर्म का परिणाम होता है। वास्तविक, यहीं सब कुछ *मेत्ता–भावना* के 'लौकिक' अभ्यास का मकसद है। जब व्यक्ति प्रामाणिक रुप से औरों की सहायता हे लिए कार्य करता है, वह एक कुशल कर्म कर रहा होता है जिससे वह कार्य उस पद्धती में परिवर्तन लाता है जिससे कर्म सिद्धांत के अनुरुप उस व्यक्ति के मन की परतें खुलती है। यह अत्यंत पुण्यकर्म होने के बावजूद भी अपने आप में धम्म–सेवा नहीं है।

हम धम्म–सेवा उस हद तक करते है जिस हद तक हम धम्म के संपूर्ण महत्व को समझ पाते है, वस्तुओं की वास्तविकता के सत्य के रुप में तथा इस गतीशील मूल सिद्धांत के रुप में कि अंतिमतः दुखों से मुक्ति पाने का यहीं एकमात्र मार्ग है। दूसरें शब्दों में हम धम्म की सेवा उसी हद तक कर सकते है जिस हद तक हमने उसे समझा हो। इस बात से यह निष्पण्ण होता है कि जब हम ध्यान, धम्म–अभ्यास एवं धम्म–चिंतन करते है, हम धम्म की सेवा करते है। हमारी समझ के आधार पर इस गतीशील मूलतत्व को दुनियाँ में परिणामकारक करने हेतु हमसें जो बन पडे वो हम करते है, फिर चाहे वह औरों को धम्म–शिक्षा देना हो, संघ की संस्थाओं में काम करना हो या फिर लोगों को उनके तात्कालिक दुखों से मुक्ति दिलाने हेतु सहायता प्रदान करना हो – या अपने सुखों का त्याग करना ताकि हमारे बच्चे अच्छी शिक्षा प्राप्त कर सके।

संघरक्षित इस विषय में सावधानी बरतने की चेतावनी देते है। भौतिक दुख जैसे कि भुख, बिमारी या सामाजिक बहिष्कार के दूर करने में सहायता प्रदान करना अत्यंत पुण्य का कार्य है, कर्म संस्कारितता के संदर्भ में, और हो सकता है कि यह धर्म–नियम की उर्जा को सक्रिय करने का माध्यम बने। ऐसा होते हुए भी, धम्म का प्रत्यक्ष रुप में प्रसार करने की बहुत अधिक आवश्यकता है और संघ की संस्थाओं (केंद्रों) की निर्मिती की भी, ताकि अधिक से अधिक लोगों के लिए ऐसी परिस्थितियाँ उपलब्ध हो सके जिसमें वे धम्म–आचरण करने में सक्षम हो। वैसे भी उदार ह्रदय वाले ऐसे बहुत से लोग है जो परोपकार का कार्य कर सकते है परंतु धम्म–सेवा कर सकें ऐसे समर्पित बौद्ध बहुत कम है – और उससे भी थोडे है त्रिरत्न बौद्ध महासंघ के वे सदस्य जो इस अर्थ से सौभाग्यशाली है कि उनके पास धम्म को ऐसे सुस्पष्ट एवं परिणामकारक रुप से सादर करने का कौशल्य है कि वह उसे लोगों के समक्ष प्रस्तुत कर सके।

वह धम्म ही है जो परोपकार के कार्य में इस प्रकार परिवर्तन लाता है कि वह दुख के वास्तविक समाधान के साथ जुड़ने का माध्यम बन सके। इसी कारणवश, संघरक्षित ने हमेशा इस बात पर जोर दिया है कि वह चाहेंगे कि जितनी अधिक संख्या में संभव हो सके उतने धम्मचारी एवं धम्ममित्रों के प्रमुख प्रयत्न इस अर्थ से धम्म–सेवा करने में हाने चाहिए।

धम्म–जीवन पद्धती के माध्यम से बंधनो को खोलना

और फिर एक बार, कोई ऐसा सोच सकता है कि एकत्रित रुप से धम्म–आचरण और धम्म–सेवा ही पर्याप्त है और धम्म–जीवन पद्धती के सवाल का अलग से विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। परंतु यह दोनों एकत्रित रुप में भी सरलता से थोडी–बहुत सुक्ष्म अहंमन्यता का स्वरुप बन सकते है, जो केवल एक अन्य प्रकार के 'व्यक्तिगत' जीवन से जुड़ी हुई है। हम पहले ही यह देख चुके है कि किस प्रकार औपचारिक धम्म–आचरण का केवल इतना अर्थ हो सकता है कि आत्म–आसक्ति के भाव की परिशुद्धता का विकास हो रहा है। उसी प्रकार से धम्म–सेवा का अल्प ज्ञान के आधार पर विश्लेषण किया गया हो तो वह भी अहमन्यता का ऐसा स्वरुप बन सकती है जो कुछ मात्रा में अहंकार की भावना से कलुषित हो।

केवल इतना ही पर्याप्त नहीं कि धम्म के प्रचार हेतु परिणामकारक रुप से कार्य किया जाए बल्कि उसे सही भावना के साथ करना भी आवश्यक है। यह भी उतना ही संभव है कि 'धम्म की सेवा' इस प्रकार से की जाए कि अंत में वह आत्म–केंद्रीत ही हो। कोई बहुत ही परिणामकारक रुप से बौद्ध कार्यक्रमों का आयोजन कर सकता है, धम्म–केंद्र का संचालन कर सकता है और धम्म–शिक्षा दे सकता है, शिविरों का नेतृत्व कर सकता है – और फिर भी सूक्ष्म या असूक्ष्म रुप से – हो सकता है कि वह व्यक्ति अपने ही अहंकार का पोषण कर रहा हो। यह एक ऐसा खतरा है जिसके शिकार बहुत से अत्यंत प्रभावशाली, ऐसे बौद्ध व्यक्ति बन जाते है, बाहर भी और हमारे अपने संघ में भी – मैने भी अपने जीवन में कुछ मूल्य चुकाकर इस बात को जाना है। हम ऐसे कई लोगों को देखते है : वह नियमित रुप से ध्यान करते है और स्पष्ट है कि परिणामकारक रुप से करते है तथा अपने जीवन का काफी समय वह बौद्ध धम्म के प्रचार हेतु अर्पित कर देते है – और फिर भी गहराईयों में, बहुत ही स्पष्ट रुप से कुछ हद तक वह अपने आप की ही सेवा कर रहे होते है। हमें अभी भी एक और तत्व की आवश्यकता है जो शायद औपचारिक धम्म–आचरण और धम्म–सेवा को परिवर्तित कर सकें एक वास्तविक आत्म–भाव विरहितता में – बोधिचित्त की उत्पत्ती में।

संघरक्षित हमें यह सिखाते है कि, वह व्यक्ति के जीवन की परिस्थितियाँ एवं कार्य जिनमें वह अपने आपको व्यस्त रखता है, ही होते है जो औपचारिक धम्म–आचरण एवं धम्म–सेवा दोनों ही को परिवर्तित होने में सहायता करते है ताकि वह वास्तव में आत्म–आसक्ति के बंधनों से मुक्त हो सके और धम्म–प्रवाह को अपने माध्यम से प्रवाहित होने का अवसर प्रदान करें। व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह धम्म–जीवन पद्धती के संदर्भ में धम्म–आचरण एवं धम्म–सेवा करें।

सहायक परिस्थितियाँ

परंतु धम्म–जीवन पद्धती क्या है : क्या वह अंतिमतः भिक्षु या भिक्षुणी की तरह जीवन व्यतित करना है, जैसे कि बौद्ध परंपरा के अनेक संप्रदाय प्रतिज्ञापूर्वक कहते है, फिर चाहे वह स्पष्ट रुप से हो या ना हो? संघरक्षित अपने शिष्यों को इस बात के लिए अवश्य प्रेरित करते है कि अगर उनसे संभव हो तो वह 'सूत्रों में वर्णित' बौद्ध–मठ पद्धती में जीवन अवश्य व्यतित करें परंतु उन्होंने बौद्ध–मठ पद्धती के संघ की स्थापना नहीं की।[19] प्रचलित मठ परंपरा की औपचारिकता और आधुनिक जीवन की जटीलता

19

को ध्यान में रखते हुए उन्होंने सर्वसाधारण रुप से धम्म–जीवन पद्धती के पिछे के तत्व को स्पष्ट करने को प्राधान्य दिया है, और ऐसी जीवन–पद्धती के उत्क्रांत होने को जो उन तत्वों को धारण कर सकें।

धम्म–जीवन पद्धती का सबसे पहला और स्पष्ट तत्व है कि वह धम्म–आचरण और धम्म–सेवा में सहायक हो। यह तत्व स्पष्टता से वारंवार दोहराया जा चुका है इसलिए मैं संक्षेप में, इसका अर्थ क्या है, इसके प्रमुख तत्वों को ही दोहराना चाहूँगा। इसका पहला तत्व है कि व्यक्ति की जीवन–पद्धती, विशेषतः उसकी उपजिविका का माध्यम नैतिक होना चाहिए, विशेषरुप से उन मूलतत्वों के अनुरुप होना चाहिए जो स्वयं बुद्ध ने *सम्यक–आजीव* की चर्चा करते हुए बतलाए है। इसमें हम उन विषयों का भी समावेश कर सकते है जिनकी आमतौर पर चर्चा नहीं होती, जैसे कि स्थानिक और वैश्विक स्तर पर अच्छे नागरिकत्व की, पर्यावरण संबंधी और ऐसी सारी गतिविधियों से मूलतः दूर रहने की जिनसे सजीवों को दुख पहुँचता हो – जैसे कि, उदाहरणार्थ, ऐसा प्रतित होता है कि दुग्ध व्यवसाय इत्यादी जैसे व्यवसायों में भी होता है। हालाँकि हर कोई यह नहीं चाहेगा कि वह अपनी जीवन–पद्धती के विषय में इतने विस्तृत रुप से विचार करें, लेकिन व्यक्ति की अपनी जीवन–पद्धती का औरों पर, मनुष्य एवं अन्य सजीवों पर, यहाँ तक की खुद पर भी क्या असर होता है इस बात से गहरा सरोकार रखना आत्म–आसक्ति के बंधन से मुक्त होने के लिए अनिवार्य तत्व है।

धम्म–आचरण एवं धम्म–सेवा हेतु सहायता के लिए मार्गदर्शन, प्रेरणा तथा सहचारिता अन्य धम्म–आचरण करने वालों से एवं धम्म की सेवा करने वालों से प्राप्त की जा सकती है। व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह उन लोगों से धम्म की शिक्षा प्राप्त करें जो उससे अधिक अनुभवी हो, विशेषतः उनसे जो सच्ची कल्याणमित्रता प्रदान करने में सक्षम हो – ऐसी मित्रता जिसका मूलस्वभाव ही व्यक्ति के धम्म–आचरण में गहराई ले आना होता है। धम्म–जीवन पद्धती जिसमें पर्याप्त मात्रा में धम्म पर आधारित मित्रता नहीं वह एकाकी और मुश्किल होगी – और अधिकांश लोगों के लिए, ऐसा भी कहा जा सकता है, कि नामुमकिन होगी।

अंतिम सहायक तत्व जिसका उल्लेख करना आवश्यक है वह है व्यक्ति के उस परिवेश का मानसिक और सौंदर्यात्मक वातावरण, यहाँ तक की उस परिवेश की संस्कृति भी के जिसके अंतर्गत वह अपना जीवन व्यतीत कर रहा है। व्यक्ति का भौतिक और समाजिक वातावरण जितना अधिक क्रुर और निर्दय होता है उसके लिए धम्म का वास्तविक आचरण कर पाना उतना ही मुश्किल होता है – अगर उसने पहले ही से कोई उच्च–स्तर की प्रेरणा तथा अंतर्दृष्टी ना प्राप्त की हो तो। आज दुनियाँ के अधिकतर लोग अपनी जरूरतों को पूरा करने, अपने वातावरण की गंदगी, सामाजिक परिस्थितीयों के कलहयुक्त स्वर तथा जिवित रहने एवं अपने परिवारिक दायित्वों को पूरा करने के लिए जो भी काम उन्हें मजबूरन करना पडता है उसके सर्व साधारण छिछलेपण एवं अर्थहिनता, के बोझ तले दबे हुए है। अगर उन लोगों की बात को छोड दिया जाए जो कि अत्यंत समर्पित है तो गरिबी, बिमारी, राजनैतिक तथा सामाजिक अस्थिरता और इन सब से तालमेल बनाए रखने का बर्दाश्त की हद से ज्यादा दबाव सभी के लिए धम्म–जीवन की बात असोचनीय बना देता है। इस प्रकार की प्रतीकुल परिस्थितियों के प्रथम दर्शनीय प्रभाव को मैनें भारत में देखा है, हमारे समर्पित भाई–बहनों के बीच, और शायद काफी बडी संख्या में मनुष्य आज ऐसी ही स्थिति में जी रहे है।

जो लोग एक अधिक मध्यमवर्गीय जीवन व्यतीत कर रहे है उनमें से कई लोग इस प्रकार के बाह्य दबावों से कहीं अधिक मुक्त है। यहाँ मुख्य समस्या है आधिभौतिकवाद, जो व्यक्ति के जिंदादिल स्वभाव में एक प्रकार की सुन्नता (बधिरता) भर देता है, और जो केवल इसी व्यक्तिगत चाह द्वारा सचेतन होती है कि उन वस्तुओं का उपभोग किया जाए जो वस्तुए हमारी विलक्षण रुप से प्रभावी आर्थिक व्यवस्था

हमारे लिए उपलब्ध कराती है – कम से कम इस अर्थ से प्रभावशाली कि वह हमारी तृष्णाओं को उत्तेजित करती है तथा उनकी भूख मिटाती है।

ऐसे में व्यक्ति के लिए आवश्यक होता है कि वह ऐसी परिस्थितियों की खोज करें या उनका निर्माण करे, जो नैतिक हो, कल्याणमित्रता के पर्याप्त अवसर प्रदान करती हो, मानसिक, सांस्कृतिक तथा सौंदर्य गुणग्राहकता के संदर्भ में भी उसके धार्मिक प्रयत्नों में सहायक हो। असाधारण व्यक्ति, जैसा प्रतित होता है कि बुद्ध स्वयं भी थे, विकास कर ही लेते है बावजूद इसके की परिस्थितियाँ कैसी है – या कम से कम इस बात के लिए कदम उठाते है कि वह अपने वातावरण को इस प्रकार ढाले कि वह उनके प्रयत्नों में सहायक हो। दूसरें अधिकतर लोग, फिर चाहे वह कितनी ही प्रामाणिकता से प्रेरित क्यों ना हो इस प्रकार से प्रतिकुल परिस्थितीयों के विरूद्ध बहुत आगे तक मार्गक्रमण नहीं कर पाते।

परंतु जीवन–पद्धती के प्रश्न से जुड़ी और एक गहरी समस्या है और इसके लिए आवश्यकता होगी आत्म–आसक्ति के कार्य प्रणाली का आगे और भी अधिक विश्लेषण करने की।

आसक्ति तथा वैराग्य

जिसके आधार पर हमारी मानसिक अवस्थायें एवं व्यवहार टिका होता है ऐसी चेतना की आधारभूत रचना के रुप में हम आत्म–आसक्ति के विषय में बात कर चुके है। परंतु यह अंतप्रेरणा निरंतर हमारे शब्दों एवं हमारे कर्मो के माध्यम से हमारे इर्द गिर्द की दुनियाँ का निर्माण करती और उसे आकार देती रहती है। हमारे वातावरण में हम अपने आपको घनत्व (ठोस रुप) प्रदान कर देते है तथा अपने आकार के अनुरुप वातावरण को रचनाबद्ध करने लगते है – यद्यपि, विचित्र रुप से हमारी आत्म–आसक्ति ऐसी दुनियाँ में भी ठोस रुप ले सकती है जो दुनियाँ हमें अत्यंत कष्ट देती है और जिस दुनियाँ की हम खुद भी आलोचना करते है। हमारे अपने अनुभवों के तत्वों को हम इस प्रकार से पहचानते है 'मेरा है' और अन्य तत्वों को 'मेरा नहीं है' : हमारी पहचान में हम समावेश करते है लोगों, वस्तुओं, परिस्थितियों, कल्पनाओं तथा अनुभवों का – और हम विशेष रुप से औरों को शामिल करने से परहेज़ करते है। इस प्रकार से हमारी आत्म–सुरक्षा का गहरा भाव हमारी ही परिस्थितीयों में बंध जाता है, जो उस वक्त अत्यंत तीव्र अनुराग (क्रोध) प्रदर्शित कर सकता है जब ऐसी किसी चीज को खतरा हो जिसे हम अपनी पहचान समझते है या फिर जब ऐसी चीज हमें डराती है जिसका समावेश हमने हमारी पहचान में ना किया हो। हमारी जीवन पद्धती जम़ जाती है, आत्म को सुरक्षा प्रदान करने वाले सख्त कवच का रुप धारण कर लेती है, जिससे होता यह है कि धम्म जिस मूल समस्या से निज़ाद पाने का इरादा रखता है उससे जूझ़ना और भी मुश्किल हो जाता है।

सच्ची धम्म–जीवन पद्धती वहीं होगी जो इस प्रकार के घनत्व का विरोध करें, ताकि व्यक्ति इसके लिए मुक्त रहें कि वह अधिक से अधिक प्रत्यक्ष रुप से आत्म–भ्रम एवं आसक्ति की आधारभूत संरचना से जूझ सके तथा उससे परें की प्रेरणाओं के समक्ष प्रस्तुत (खुला/ग्रहणशील) हो सकें। पारंपारिक तौर पर इसे वैराग्यपूर्ण जीवन के रुप में जाना तथा आचरण में लाया गया है, क्रमशः उन सभी वस्तुओं का त्याग करना जो समस्या को अधिक गंभीर एवं सख्त बनाती है और पुनश्च उन वस्तुओं के संचय को टालना। निश्चित रुप से, और कुछ नही ंतो लोगों, संपत्ती और अधिकारों के मध्य में रहते हुए भी उनकी आसक्ति से स्वतंत्र रहना संभव है, वैसे ही जैसे बोधिसत्व विमलकिर्ती को रहते हुए दर्शाया गया है, क्योंकि अंतिमतः समस्या तो मन के भीतर स्थित है। परंतु व्यक्ति जितना कम त्याग करता है उतना ही अधिक उसे विषयों (वस्तुओं) में डूबे रहकर उन्हीं की आसक्ति से मुक्त होने हेतु कार्य करना पडेगा

– जो कि बिल्कुल भी आसान नहीं। जब तक कि किसी ने थोडे बहुत निर्णायक रुप से आत्म–आसक्ति के बंधनों को तोड़ ना दिया हो तब तक, बढ़ते हुए वैराग्य जीवन को छोड कर अन्य हर चीज कर झुकाव सिर्फ उसे गंभीर करने की ओर ही होगा।

वैराग्य की चर्चा करते हुए, इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि इसे अस्वास्थकर मानसिक दमन के अर्थ से नहीं लिया जाना चाहिए। वैराग्यपूर्ण जीवन–पद्धती जिसका तनिक भी महत्व हो वह बिना प्रसन्नता के (आनंद रहित) हो ही नहीं सकती फिर चाहे वह शारिरिक रुप की प्रसन्नता हो या मानसिक रुप की हो : सचमुच, संघरक्षित ने कहा है कि व्यक्ति को जीवन के 'निचले स्तर के' सुखों का त्याग करने का प्रयत्न तब तक नहीं करना चाहिए जब तक कि उसने 'उच्च–स्तर के' सुखों का निश्चित अनुभव ना ले लिया हो – अन्यथा उसकी परिणीती एक नही ंतो दूसरे प्रकार की मानसिक विकृती में हो सकती है या फिर पाखंड में। इन सब बातों पर जोर देना इसलिए आवश्यक है क्योंकि पाश्चिमात्य सांस्कृतिक आदत है, इस बात पर यकिन रखना कि 'जहाँ माँस (शरीर) वहाँ शैतान', इस तरह का दृष्टीकोण कि शरीर के सारे सुख स्वाभाविक तौर पर ही पाप कर्म होते है। बौद्ध धर्म इस प्रकार का कोई समीकरण नहीं करता, बल्कि इस बात पर अधिक जोर देता है कि शरीर से संबंधित सुख सापेक्ष रुप से मामूली एवं अल्प आयु के होते है तथा वह गहरी एवं अनंत अशांती का अंत नहीं कर सकते – और ऐसा करने से हमारा ध्यान आसानी से भटका सकते है। असली मुद्दा यह नहीं है कि सुखों को टाला जाए बल्कि यह है कि उसकी लत को टाला जाए, इस अर्थ से कि किन्हीं विषेश वस्तुओं के होने को अपने सुखी होने का कारण मानना और हर वक्त उन्हीं के आश्रय के लिए ललायित रहना – उन्हें अपनी खुद की आत्म–पहचान का हिस्सा बनाना। और नशीले पदार्थों का सेवन करते हुए उसकी लत को टालना मुश्किल ही होता है।

हमारे आंदोलन में जीवन–पद्धती

फिर त्रिरत्न बौद्ध महासंघ में आज जो जीवन–पद्धती है उसके विषय में क्या? आंदोलन के अस्तित्व में आने के आरंभ के कुछ सालों में, पश्चिम में, जीने की मनोकामना की जाए ऐसी जीवन–पद्धती किस प्रकार की होनी चाहिए इस बात की नियमावली के संबंध में सशक्त धारणाए थी। विस्तार में ना जाते हुए कहा जाए तो, ऐसा कहा जाता था कि 'अर्ध–विहारवास' या 'संपूर्ण विहारवास' (आश्रम, मठों या कुलों में निवास) ही सर्वात्तम व्यवस्था है : स्त्री और पुरूषों का विभक्त कुलों में रहना, सामुहिक रुप से सम्यक आजिविका के व्यवसायों में काम करना, धम्म केंद्रों के कामकाज में सहायता प्रदान करना, काम के लिए सेवा–वेतन के स्थान पर अनुदान लेना, अगर किसी की पहले ही से कोई पारिवारीक जिम्मेदारियाँ ना हो तो ऐसी जिम्मेदारियों के संचय से दूर रहना, और अपनी यौन क्रिडाओं को अपनी जीवन–पद्धती में केंद्रीय होने की अनुमती ना देना। काफी वर्षों तक अधिकतर संघ–सदस्य इसी प्रकार का जीवन व्यतीत भी करते रहे, जिसमें अलग अलग मात्रा में उत्साह तथा असहजता भी सम्मिलित थी। धीरे धीरे इस व्यवस्था के संतुलन में परिवर्तन होता गया जब अधिक ऐसे लोगों ने संघ में प्रवेश किया जो इस प्रकार नहीं रहते थे और साथ ही दूसरे काफी लोगों ने भी जो पहले इस प्रकार से जीवन व्यतीत करते थे उसे करना बंद कर दिया।

भूतकाल की नियमबद्ध आचार पद्धती अब पिछले बहुत वर्षों से काफी कम लोगों के द्वारा आचरण में लायी जा रही है, परंतु, ऐसा होने पर भी उसका महत्व एवं प्रभाव कभी भी कम नहीं हुआ। यह स्पष्ट है कि, किसी समय सच्ची जीवन–पद्धती के लिए आवश्यक समझी जाने वाली सारी संस्थाओं में या उनमें से किसी भी संस्था में सहभागी हुए बिना भी बहुत से अच्छे और निष्ठावान धम्मचारी और धम्ममित्र

परिणामकारक रुप से धम्म–आचरण कर रहें है। इस बात को उन अनेक पुरूषों एवं महिलाओं की, जो विवाहित है तथा जिनके परिवार है, संघ में दिक्षा हेतु सक्रिय मान्यता एवं स्वीकृती प्रदान की गई है – और सचमुच, भारत में, कुछ अपवाद छोड़कर अधिकतर संघ–सदस्य विवाहित है। सर्व साधारण रुप से, जो कि समर्थनीय भी है, इस बात पर जोर दिया गया है कि व्यक्ति का शरण–गमण कितना परिणामकारक है और ना की इस बात पर कि वह कुल में निवास करता है या नहीं।

पश्चिम में आंदोलन के परिपक्व होने का परिणाम यह हुआ कि इन दिनों नियमबद्ध आचार पद्धती के अनुसार ही अपने आपको ढालने का थोडा या बिल्कुल भी दबाव नहीं है और सर्व साधारण रुप से लोग अपने लिए जो उन्हें सबसे अधिक उचित लगता है उस प्रकार से अपना जीवन व्यतीत करने के लिए वह अपने आपको स्वतंत्र महसूस करते है – चाहे वह पद्धती संघ में आचरण में हो या ना हो, वह अपने लिए ऐसे चुनाव करते है जो वास्तव में उनकी धम्म से की हुई प्रतिज्ञाबद्धता को निभाने में सहायता करे। कुछ हद तक यह प्रगती साकारात्मक है, इस अर्थ से क्योंकि एक व्यक्ति के तौर पर यह लोगों को उनकी जीवन–पद्धती का चुनाव करने में सहजता प्रदान करती है, इस वजह से जो भी सहभागित्व कुलों में, या सम्यक आजिविका दलों में या अन्यत्र है वह अधिक चेतन और अंतकरणपूर्वक दिया हुआ हो सकता है। इससे संघ एवं आंदोलन के सर्व साधारण वातावरण के ध्रुवीकरण में कमी आयी है और साथ ही एक दूसरे के प्रती के आदरभाव में वृद्धी हुई है।

इसके विपरित, इस बात का जिक्र करना आवश्यक है कि, भारत में, हमेशा से और अभी भी एक सशक्त नियमस्वरुप दबाव रहा है, सिर्फ विस्तृत बाह्य समाज से ही नहीं बल्कि संघ के भीतर भी – विवाह करने का दबाव। इसे इतना अधिक बुरा बनाने वाला तथ्य यह है कि भारतीय बौद्धों के बीच ब्रम्हचर्य और विवाह इसके अलावा कोई भी अन्य व्यवस्था समाज मान्य नहीं है। इस प्रकार वहाँ के स्त्री अथवा पुरुषों के विभक्त कुल अधिकतर युवक या युवतियों के लिए तात्कालिक निवास के रुप में ही कार्यरत रहे है – हालाँकि कई बार अत्यंत साकारात्मक परिणाम के साथ। भले ही, कुल–आधारित धम्म–जीवन पद्धती निर्माण करने के पिछे की सारी ही समान कल्पनाए भारत में भी ज्ञात है और उनका वास्तविक अनुभव लेने के भी प्रयास होते रहे है, फिर भी वर्तमान की परिस्थितियाँ इसे बेहद मुश्किल बनाती है।

क्योंकि आंदोलन के नियम आज उतने सुस्पष्ट नहीं है, निश्चित ही पश्चिम में व्यक्ति के लिए यह बात अत्यंत आवश्यक है कि वह अपने चुनाव अधिक जागृती पूर्वक करें। इस विषय में विचार करते हुए कि किस प्रकार का जीवन व्यतीत करना चाहिए, इस बात को गृहित मान लेना चाहिए कि उसमें ऐसी किसी भी बात का समावेश ना हो जो नैतिक रुप से अकुशल है, धम्म–आचरण करने वाले व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह पहले जिन बातों का उल्लेख किया गया है उनका स्मरण रखे : जितना हो सके उतना भौतिक चिन्ता एवं असुरक्षा से मुक्त रहना, औपचारिक धम्म–आचरण के लिए पर्याप्त समय और उर्जा का होना, तथा सक्रिय सहायता, मार्गदर्शन एवं प्रेरणा प्राप्त करना और साथ ही मन को सुन्न करने वाली ध्यान भटकाने वाली चीजों से दूरी रखना।

और फिर हमारे समक्ष है वहीं वैराग्य की अधिक मूलभूत समस्या, वहीं जिसका समाधान वास्तविक आचरण में हमेशा ही उतना सरल नहीं होता, विशेषरुप से आधुनिक उपभोक्तावादी अर्थव्यवस्था के प्रभाव एवं सर्वव्याप्ती के रहते जिसके साथ ही उपस्थित है उदारमतवादी प्रजातंत्र की स्वतंत्रता। व्यक्ति को इस बात की ओर ध्यान देने की आवश्यकता होगी कि वह जिन बातों का चुनाव कर रहा है वह किस हद तक उसी के इर्द गिर्द बढ़ते हुए उसकी आत्म–पहचान को घनत्व प्रदान कर सकती है, रिश्तों, संपत्ती, प्रतिष्ठा और मनोवृत्ती में जो उसकी अपनी अंदरूनी आत्म–आसक्ति का प्रकट रुप होते है। यह निश्चित ही *पृथकजण* की स्वाभाविक प्रवृत्ती है और हम सब उसी के अधिन है, चाहे हमारे जीवन व्यतीत करने का ढंग जो भी हो। इतना ही नहीं, कुछ जीवन पद्धतियाँ इस प्रवृत्ती का इतनी

अधिक तत्परता से पोषण कर सकती है कि जिससे अपनी पहचान के आर–पार देख पाना और उससे मुक्त होना ताकि *धर्म–नियम* प्रकियाए प्रकट हो, और भी मुश्किल हो जाता है।

केवल सहायक वातावरण ही पर्याप्त नहीं

चाहे हमारी जीवन–पद्धती कितनी ही नैतिक, सकारात्मक और मित्रता से परिपूर्ण क्यों ना हो, केवल उसी के सहारे धम्म–प्रवाह में प्रवेश नहीं हो सकता। हमें धम्म के साथ अत्याधिक तीव्रता के साथ गठबंधित होने के लिए सक्षम होने की आवश्यकता होती है। हमारी सारी उर्जाओं को इस प्रकार से समाविष्ट होने की आवश्यकता होती है कि हम अपनी आत्म–संरचना की वर्तमान सीमाओं को छू लें।

धम्म–जीवन की केंद्रीय बात है, जैसा कि हम बार–बार देख चुके है, आत्म–आसक्ति की आधारभूत रचना को अंतिम रुप से नष्ट करना, ताकि धर्म–नियम प्रक्रियाँए प्रकट हो सके। धम्म–आचरण, धम्म–सेवा तथा धम्म–जीवन पद्धती की अब तक जिन शब्दों में व्याख्या की गई है वह अनिवार्य है, परंतु कदाचित् ही वे उस गहरी अंतप्रेरित आदत से मुक्त होने के लिए पर्याप्त सिद्ध हो सकते है।

हमारे औपचारिक धम्म–प्रशिक्षण को सुचारु रुप से हमारे मन पर लागु करने के अर्थ से, हमारा धम्म–आचरण हमारे लिए एक अनिवार्य आधार स्थापित करता है। कर्म संस्कारितता के अनुसार वह हमें धीरे धीरे तैयार करता है ताकि हम पर्याप्त रुप से एकरुप हो और इतने ऊँचे भी उठ चुके हो कि सत्य के आघात को अपने भीतर समा ले। वह हमें धम्म की उच्चतम अंतर्दृष्टीयों से गठबंधित करता है ताकि वे हर उस प्रत्युत्तर के साथ एकरुप हो जो हम हमारे साथ घटित होने वाली बातों को देते है। वह हमें उस उर्जा के समक्ष प्रस्तुत करता है जो आत्म–आसक्ति से परे होती है, ताकि हम अधिक से अधिक स्वयं को उसके लिए उपलब्ध रख सकें, आल्हाद के साथ और उसके स्वागत के लिए तत्पर। परंतु अभी भी तत्परता को वास्तविकता में परिवर्तित करने हेतु एक अतिरिक्त चिंगारी की आवश्यकता होती है।

धम्म–सेवा हमारी सहायता करती है उस बात के प्रति ग्रहणशील होने के लिए जो हमारी आत्म–आसक्ति से परें होती है, जिससे कि हम आत्म–त्याग करने में सक्षम होते है। फिर भी वह आसानी से अपने आप में ही केवल व्यवसाय, आत्म–महत्व या ध्यान के भटकने के साधन के स्त्रोत में बदल सकता है। जरूरत होती है कि कोई चीज उसे वास्तविक आत्म–त्याग में परिवर्तित कर सके।

इसी प्रकार, आधारभूत सकारात्मक धम्म–जीवन पद्धती को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता : जितना कमजोर हमारा अनुशासन और निश्चय होता है उतनी ही अधिक मात्रा में हमें अनुकूल परिस्थितियों की आवश्यकता होती है, जिन परिस्थितियों में हमारा ध्यान ना भटकें और जो हमारे लिए सहायक भी हो, जहाँ हमारे मित्र और गुरू हमें प्रेरित करने हेतु एवं हमारा मार्गदर्शन करने हेतु तत्परता से उपलब्ध हो पाते हो अन्यथा हममें से अधिकतर लोग धम्म–आचरण के अपने प्रयासों को जारी नहीं रख पाऐंगे। परंतु धम्म–जीवन पद्धती अकेले ही पर्याप्त नहीं जैसे कि बहुत से बौद्ध मठों या फिर स्त्री अथवा पुरूषों के विभक्त मरणासन्न कुलों से स्पष्ट है। यहाँ तक की गंभीर ध्यान–साधना या धम्म–अभ्यास के आधार के रुप में भी, यह हमेशा ही पर्याप्त नहीं होती।

इससे आत्म–आसक्ति को तोड़ने की कार्यप्रणाली का और भी आगे विश्लेषण करने की आवश्यकता निर्माण हो जाती है।

वास्तविक आध्यात्मिक मृत्यु एवं आध्यात्मिक पुनर्जन्म

हम यहाँ जिसकी खोज कर रहे है वह है वास्तविक आध्यात्मिक मृत्यु एवं आध्यात्मिक पुनर्जन्म। हमारा धम्म–आचरण जो धम्म–सेवा करने के अर्थ से किया गया है वह हमारी अनुशासित धम्म–जीवन पद्धती के सहयोग से हमारी उर्जाओं को एकत्रित कर तथा उन्हें ऊँचा उठाकर धम्म–चिंतन करने को हमारा दूसरा स्वभाव बना देता है। तद्नुसार, हम जीवन को अंतकरणपूर्वक संबोधित करने के काबिल हो जाते है और ज्यों ज्यों जीवन हमारे इर्द गिर्द प्रवाहित होता है हम अधिक से अधिक स्वाभाविक रुप से अपने विचारों को धम्म के गहरें सत्यों की ओर मुडता हुआ पाते है। फिर जीवन के मध्य में एक क्षण ऐसा आएगा, जब हम ऐसा देख सकते है कि, बिना किसी सोच विचार के भी, यह सत्य प्रत्येक क्षण के अनुभव से परावर्तित हो रहे है। हमें यह अनुभूति होगी कि जिसे हम अपना 'मैं' समझते है, वह प्रतिक्रियाओं की बस एक गठरी है : जैसा कि मेरे एक मित्र ने इसे मेरे समक्ष इन शब्दों में रखा, यह ऐसा नहीं है कि 'मेरी' प्रतिक्रियाए है बल्कि 'मैं' की प्रतिक्रिया है। हमारी आध्यात्मिक मृत्यु का आरंभ हो चुका होगा, हम उस स्थान पर पहुँच चुके होंगे जहाँ इस प्रकार की आत्म–रक्षात्मक प्रतिक्रियाए हमारे आत्म की दिवारों को ढहने से नहीं बचा पायेंगी क्योंकि प्रत्यक्ष एवं निर्णायक रुप से हम उनकी संपूर्ण कृत्रिमता से परिचित हो चुके होंगे।

बुद्ध जिस धम्म का प्रकट स्वरुप थे तथा जिसकी वह सेवा करते थे, उस धम्म के प्रति जब हम अपने आपको खुला (ग्रहणशील) करते है तब हमारा धम्म–आचरण, सेवा एवं अनुशासनबद्ध जीवन पद्धती हमें बुद्ध के अनुरुप बनाती है। एक या दूसरे प्रकार से हम उनके गुणों पर ध्यान कर रहें होंगे और जो सत्य वह व्यक्त कर रहे होंगे उनके प्रति गहरी ग्रहणशीलता का विकास कर रहे होंगे। अपनी आत्म–रक्षात्मक प्रतिक्रियाँओं को त्यागने के उस क्षण में, शायद हो सकता है कि हम अपने भीतर प्रवृत्तीयों को उत्पन्न होता हुआ महसूस करें, एक शक्ति या उर्जा, जिसका व्यक्तिगत स्वार्थ (हित) से कोई लेना देना नहीं – जो वाक्संप्रदाय शैली में, परा–व्यक्तिगत है। और हम खुशी–खुशी उसके आगे अपने आपको समर्पित कर देंगे। संघरक्षित के शब्दों में, संदर्शन–साधना का प्रारंभ करने के उपरांत, उस वक्त से हमें 'उस आयाम से मार्गदर्शन प्राप्त होगा'।

चाहे हमें मृत्यु तथा पुनर्जन्म के उस 'क्षण' का अनुभव मिलने वाला हो या ना हो या केवल अपने होने पर दिये जाने वाले जोर में क्रमशः या अत्यंत सुक्षमता से आने वाले बदलाव हो, संघरक्षित कहते है कि, ऐसा होने के लिए, जिन बातों का पहले ही जिक्र किया जा चुका है उनके अलावा एक और बात का होना अनिवार्य है और वो है तीव्रता। हमारे जीवन का अधिक से अधिक अंतकरण पूर्वक धम्म पर केंद्रीत रहना आवश्यक है। हम जो भी कार्य कर रहे हो, हम जहाँ भी हो, जो भी हमारे ध्येय हो, सब कुछ धम्म की चेतना से अधिक से अधिक भरा हुआ होने की आवश्यकता है। हमारी उर्जाए, हमारी प्रेरणाए, हमारे लक्ष्य यहाँ तक की हमारे ख्वाब भी धम्म पर ही केंद्रीत होने चाहिए। आज नहीं तो कल हमारे गठबंधन की यह शुद्ध तीव्रता हमारी भीतरी आसक्ति के समक्ष हमें इस तरह लाकर खडा कर देगी की हम उसे टाल नहीं पायेंगे।

हमारी धार्मिक प्रेरणाओं एवं समझ में तथा उस गहरी अंतप्रेरित संरचना में जो स्वाभाविक विसंगती है, वह इतना तणाव निर्माण करेंगी, जो कई बार, असहनीय प्रतीत हो सकता है। चीजें गलत होंगी, हमारी योजनाए विफल होंगी, लोग हमें निराश करेंगे या हमारे विरूद्ध हो जायेंगे, जिनसे हम प्रेम करते है वह हमारे लिए भी उसी तरह महसूस नहीं करेंगे, या फिर हमारे मानसिक भूभाग के चित्रिकरण में जो व्यक्ति केंद्रीय है मृत्यु उन्हें हमसे निचोड़ कर अलग कर देगी। और हमारे सारे प्रशिक्षण के बावजूद – घंटो की मेत्ता भावना, अनित्यता पर चिंतन, बुद्धों और बोधिसत्वों पर की गई ध्यान–साधना – जो कुछ भी हम कहते आए है उसके बावजूद – कल्याण मित्रता के जो भी शब्द हमने कहें है, प्रेरणा से भरे प्रवचन जो हमने दिये है, अंतर्दृष्टी से भरे लेख जो हमने लिखे है बावजूद सबके – हम अपने

आपको प्रतिक्रिया देते हुए पा सकते है : हताशा, क्रोध, इर्षा, असंयत रुप से हमारे भीतर प्रवाहित हो सकती है। वज्रछेदिका प्रज्ञा पारमिता सूत्र के शब्दों में, 'हम अच्छी तरह से विनित (विनम्र) हो जायेंगे, अच्छी तरह से विनित हम वाकई में हो जायेंगे'।[20]

हमारे अपने प्रयत्नों की तीव्रता तथा परिस्थिती की तीव्रता ही इस मानखण्डना (अपमान) को लाती है। और वहीं तीव्रता हमें हमारी विनयशीलता से भी जोड़कर रखती है। हमारा प्रतिक्रिया देना बंद नहीं होता, कम से कम भीतर से तो नहीं, लेकिन अपने आप को ही हम इन प्रतिक्रियाओं का स्पष्टीकरण नहीं दे पाते, ना दोषारोपण से और ना ही अन्य किसी प्रकार के बुद्धीप्रामाण्यवाद से। हमारी धम्म से प्रतिज्ञाबद्धता इतनी तीव्र होती है कि वह हमें आसानी से बचकर निकलने नहीं देती। हमें हमारी भावनाओं की गहराईयों में, हमारी प्रतिक्रियाओं की गहराई में, उनके मूल स्त्रोत की गहराई में, उस आत्म–आसक्ति की ओर जो अब खुले में आ गई है, देखना ही पडता है। तब हम उसे उसके वास्तविक स्वरुप में देख सकते है, एक कृत्रिम रचना जो हमारे सारे दुखों का तथा उनमें से प्रवाहित होने वाले अकशुल कर्मो का कारण है। तद्नुसार हम बुद्ध के स्वर में स्वर मिलाकर कहते है, 'गृहकारक! तू दिखाई दे गया ' और हम जब जब उस गृह का पुननिर्माण होगा उसे तत्परता से तोड़ पायेंगे, 'तेरी सब कडियाँ टूट गई। घर का शिखर बिखर गया। चित्त संस्कार–रहित हो गया। तृष्णाओं का क्षय हो गया।'[21] तद्नुसार, हमारी सारी चित्त उर्जाए, बिना किसी प्रयास के धम्म–सेवा करने में प्रवाहित होंगी, जैसा कि हमारे तीव्रता भरे जीवन का उद्देश्य रहा होता है।

उस तीव्रता की कार्यप्रणाली को एक अलग दृष्टीकोण से भी देखा जा सकता है – शायद यह चित्त–प्रकृति पर निर्भर करता है : शायद इसमें अंतर हो सकता है कि 'द्वेष–' और 'लोभ– प्रकार' इसे किस तरह महसूस करते है। हमें शायद ऐसा भी पता चले कि यह हमारे इर्द–गिर्द की जरूरतों की तीव्रता ही है जो सहजता से हमारे आत्म–मोह को तोड देती है, एक झटके के साथ हमें अपने आप से बाहर लाते हुए। संघरक्षित अपनी इस अनुभूति के अनुभव का वर्णन करते है कि वह 'एक अ–व्यक्तिगत उर्जा थे', नागपूर में 1956 में। ऐसा प्रतित होता है कि उस वक्त क्या हुआ होगा कि लाखों नव–बौद्धों की व्याकूल कर देने वाली सांत्वना एवं मार्गदर्शन की जरूरत ने उन्हें अपने आपको भूलने पर विवश कर दिया होगा। उन्हें पहले ही से मानवता के लिए धम्म के महत्व की सुस्पष्ट समझ थी, और उन्होंने अपने आपको धम्म की सेवा में समर्पित कर दिया था, खास कर तब से जब उनके गुरू ने उन्हें कलिंगपाँग में यह निर्देश देकर छोड़ दिया था कि 'यहाँ रहो और बौद्ध धर्म के लिए कार्य करो'। परंतु उनके कथन के अनुसार, भले ही सर्वत्र उतनी ही प्रचंड जरूरत थी, उनमें से अधिकतर लोग जिनके वह उस दौरान संपर्क में आये थे उन लोगों ने उसे उनके जितनी ही सशक्तता से महसूस नही किया था। अब वहाँ एक बहुत भारी संख्या में भीड़ थी, उन लोगों की जिन्होंने अपनी अत्याधिक तात्कालिक जरूरतों के समाधान के रुप में अपने आपको बौद्ध धर्म को समर्पित कर दिया था, और उन्हें, तुरंत उसी समय, बहुत ही बुरी तरह से धम्म से सहायता ही आवश्यकता थी। इतना ही पर्याप्त था कि वह अपने से अधिक कुछ को बाहर आने दे, ऐसा कुछ जो उनकी क्षमता के दायरे से बहुत ही परे चले गया।

चेतना का तिसरा वर्ग

संघरक्षित की यह शिक्षा है कि प्रतिज्ञाद्धता पूर्वक धम्म–आचरण करने वालों के समूह में इस प्रकार की तीव्रता निर्माण हाने की सर्वाधिक संभावना होती है। जिस समूह के सदस्य सामुहिक रुप से एवं सादगी

20

21

से भरा जीवन जी रहे है, तथा समीपता एवं तीव्र सहयोग के साथ सामुहिक रुप से धम्म की सेवा कर रहे है। ऐसी परिस्थितियाँ धम्म–प्रवाह में प्रवेश की सर्वोत्तम संधी उपलब्ध कराती है। ऐसे ही धर्म समुदाय में, बोधिचित्त की उत्पत्ती के लिए सर्वोत्तम आधार मिल सकता है। त्रिरत्न बौद्ध महासंघ एवं सहायक गण की स्थापना के पिछे संघरक्षित का यही प्रमुख विचार रहा है।

जब इस तरह के लोग इकठ्ठा आते है जिनकी दृष्टी और उद्देश्य समान हो और आपस में वह अत्यंत तीव्रता से उन्हें महसूस करते हो तो उनके प्रयत्न एकत्रित होकर गती को निर्माण करते है जो उन सब को एक साथ आगे की ओर, स्वयं से परे खींच लेती है। यही संघ है। अगर वे वाकई इस प्रकार से एकत्रित आ सके कि उनमें एकवाक्यता, खुलापण एवं आपसी विश्वसनीयता हो, तो हर एक की कमजोरीयाँ अलग रह जाती है एवं उनके सामर्थ्य निस्वार्थ भाव से धम्म की सामुहिक रुप से की जाने वाली सेवा में अपना योगदान देते है। आपस में वे एक शक्तिशाली प्रवाह का निर्माण करते है जो उन सब को एक साथ अपने संग बहा ले जाता है। यदी धम्म–आचरण एवं जीवन पद्धती की सारी परिस्थितीयाँ अनुकूल हो तो, इस प्रकार ही सामुहिक तीव्रता निर्मित होती है कि जिसमें से ऐसा कुछ क्रियान्वित होता है जो उन सबके जोड़ से कुछ अधिक होता है – बोधिचित्त उत्पन्न होता है, धर्म–नियम प्रक्रियाओं का प्रवाहित होना आरंभ हो जाता है। संघरक्षित इस बात पर जोर देते है कि इस प्रकार की परिस्थिती में व्यक्ति इसके विषय में इस प्रकार से नहीं सोचता कि यह किसी एक विशेष व्यक्ति के साथ घटित हो रहा है – इसे इस प्रकार से महसूस नहीं किया जाता। हर एक की व्यक्तिगत चेतना से परे, सभी की एक सामुहिक चेतना की गुणवत्ता में से, एक चेतना या उर्जा उत्पन्न होती है जो परा–व्यक्तिगत होती है। वह इसे 'चेतना का तिसरा वर्ग' कहकर इस प्रकार से संबोधित करते है।

> यह चेतना, सभी लोग जो इसमें शामील है उनकी व्यक्तिगत चेतनाओं का जोड़ नहीं, ना ही यह सामुहिक चेतना का प्रकार है, परंतु यह एक अत्यंत अलग ही वर्ग की चेतना है जिसके लिए हमारे पास अंग्रेजी में कोई शब्द नहीं लेकिन शायद रुसी शब्द सोबोरनास्त् से हमें कुछ अंदाजा आ सकता है।[22]

त्रिरत्न बौद्ध महासंघ एवं चेतना का तिसरा वर्ग

त्रिरत्न बौद्ध महासंघ स्वयं ही वह प्राथमिक रचना है जिसमें इस संघ के सदस्य इस प्रकार का अनुभव प्राप्त कर सकते है। जब वह दिक्षा ग्रहण करते है, तब संघ–सदस्य यथार्थ में इसे निर्माण करने में सहायता प्रदान करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हो रहे होते है। वास्तविक यह ऐसा भी नही है कि इसे निर्माण करने की आवश्यकता है। जैसा कि हम यह देख चुके है, संघ की स्थापना ही उसके द्वारा हुई है जिसका वर्णन संघरक्षित केवल, वह परा–व्यक्तिगत उर्जा या शक्ति, ऐसा ही कर पाए है, जो प्रारंभ में उनके द्वारा कार्यान्वित थी और इस समय औरों के माध्यम से भी कार्यान्वित है। व्यक्ति उसमें सहभागी होने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होता है। वह अपने जीवन में इस प्रकार की परिस्थितियों को स्थापित करने का बीड़ा उठाता है जिनकी वजह से यह बातें संभव हो सके : अंतकरणपूर्वक धम्म–आचरण, धम्म–सेवा करने हेतु अन्य लोगों क साथ मिलकर कार्य करना, तथा एक वैराग्यपूर्ण जीवनपद्धती। और जिस हद तक हम यह सब कर पायेंगे उस हद तक तब त्रिरत्न बौद्ध महासंघ के लिए, 'उसके शब्दशः अर्थ से' हजार–हाथों वाले तथा ग्यारह–सिरों वाले अवलोकितेश्वर के रुप में कार्यरत रहना संभव होगा।

22

कुछ लोगों के लिए यह 'परा–व्यक्तिगत उर्जा' या 'चेतना के तिसरे वर्ग' की बात इस प्रकार हो सकती है जैसे कि, जोर शोर से कहीं गयी खोखली सी बातें अथवा कोई चीज जो जैसी होनी चाहिए ऐसी हमारी इच्छा होती है वह बिल्कुल वैसी ही है इस प्रकार से मान लेना। ऐसे लोग त्रिरत्न बौद्ध महासंघ की सारी समस्याओं की तरफ इशारा कर सकते है : विसंवाद, अकुशलता, संभ्रम तथा आध्यात्मिक शक्तिविहिनता भी। और यह सब वहाँ है इसे हम देख भी सकते है – परंतु देखने के लिए और भी बहुत कुछ है, जो कि अत्यंत साधारण सा सद्‌गुण अथवा सद्‌भाव भी हो सकता है। कुछ लोगों, को चाहे वह संघ–सदस्य हो या ना हो, ऐसा हो सकता है कि संघ के भीतर आत्म से परे उठने जैसा कोई अनुभव प्राप्त ना हो। कोई इस बात का आग्रह नहीं कर सकता कि उन्हें वैसा अनुभव होता ही है जब कि उन्हें ना होता हो, ना ही बौद्धिक तर्क विश्लेषण के आधार पर उन्हें उन बातों का अस्तित्व सिद्ध करके बताया जा सकता है। परंतु हम में से कई लोग इस प्रकार का अनुभव प्राप्त करते है और हम में से अधिकतर लोग इसी वजह से संघ की ओर आए है।

उदाहरण के तौर पर हमें संघ–सम्मेलनों में अक्सर ऐसे वातावरण का अनुभव आता है जो कभी अपने लक्ष्य पर केंद्रीत या कभी उससे भटक कर इधर उधर मंडराँता रहता है, विशेषतः संघ–परिषदों में या किन्हीं विशेष शिविरों में अथवा इसी प्रकार के अन्य स्थान पर। एकाएक ऐसा प्रतित होता है कि हर कोई अपने आप से ऊँचा उठकर एक सामुहिक चेतना में सहभागी हो चुका है जो किसी के भी स्वतंत्र अस्तित्व को नहीं नकारती परंतु फिर भी वह हर किसी से अधिक होती है : वह 'तिसरे वर्ग की चेतना', जिसके विषय में संघरक्षित बात करते है, जो व्यक्तिगत और सामुहिक चेतना दोनों ही से परे है।

वह उर्जा एक संभावना है जो उस समय कार्यान्वित हो सकती है जब संघ–सदस्य और अन्य लोग पर्याप्त तीव्रता और गहराई के साथ धम्म की सेवा करने हेतु एकत्रित आए। सर्व साधारण रुप से कहा जाए तो, जितना अधिक वे संघ के अन्य सदस्यों के संपर्क में रहेंगे, उतनी ही अधिक इस बात की संभावना होती है कि वह चिंगारी जल उठे। परंतु, इसका अर्थ इस प्रकार से नहीं लिया जाना चाहिए कि हर वक्त आमने–सामने ही संपर्क में रहना उनके लिए आवश्यक है। एकान्तवास का अनुभव, प्रदिर्घ कालावधी के लिए भी, आवश्यक सामग्री है। धम्म–आचरण के आधार पर किया गया एकान्तवास, व्यक्ति के एकाकी अस्तित्व के भाव को तीव्र करता है, जो कि अन्य लोगों के साथ वास्तविक संपर्क का एकमात्र आधार है।

जब कोई अपने आप को इस एकाकीपण का पूरा पूरा अनुभव लेने का अवसर देता है तब एकांतवास का अनुभव भी अन्य लोगों के साथ संपर्क के संदर्भ में लिया जा सकता है। उदाहरण के तौर पर, संघरक्षित ने संघ के आरंभिक दिनों में किए गए अपने एक दिर्घ कालावधी के एकांतवास का वर्णन किया है। कुछ सप्ताह तक उनका संघ के अन्य सदस्यों के साथ संपर्क नहीं था, फिर भी वे कहते है कि वह उन सबको अपने इर्द गिर्द हर तरफ बैठा महसूस कर रहे थे और एक बड़े से वृत्त में वह उन्हें विशिष्ट स्थान पर देख सकते थे। अगर किसी की लोगों के साथ के संपर्क में पर्याप्त सुस्पष्टता रहती है तो उनसे शारिरीक रुप से दूर होने के कारण से उनके साथ का संबंध नहीं टूटता। इसी तरह, संघरक्षित ने कहा है कि, एक बार भारत छोडने के पश्चात उन्हें अपने गुरू धार्दो रिंपोचे के साथ पत्रव्यवहार जारी रखने की आवश्यकता ही महसूस नहीं हुई, क्योंकि उन्हें ऐसा कभी भी नहीं लगा कि वे उनसे जुदा हो गए है।

संघ फिर अपने आप में संघ–सदस्यों के लिए वह प्राथमिक मंच है जहाँ वे धम्म की सेवा सामुहिक रुप से कर सकते है, और ऐसा करना, मेरे अपने अनुभव से, सर्वसाधारण रुप से कहा जाए तो, परिणामकारक भी है। जो विशेष रुप से उस वक्त महसूस किया जा सकता है जब संघ–सदस्य बडी संख्या में एकत्रित आते है – और इसी कारणवश इस तरह का सम्मेलन इतना महत्वपूर्ण होता है।

परंतु ऐसे अवसर दुर्लभ होते है, विशेष रुप से एकत्रित लायी गई परिस्थितियों के संच को, व्यवहारिक कारणवश कुछ दिनों से अधिक के लिए एकत्रित नहीं रखा जा सकता। अगर हम वास्तव में ऐसा चाहते है कि उस परा–व्यक्तिगत उर्जा को विश्व परिवर्तन हेतु अपने माध्यम से कार्यान्वित होने का अवसर प्रदान करे, तो हमारे दैनंदिन जीवन में हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम उस प्रकार की परिस्थितियों को एकत्रित लाए। धम्म–आचरण एवं धम्म–जीवन पद्धती के आधार पर धम्म–सेवा करने हेतु हमें संघ–सदस्यों एवं अन्य लोगों के साथ परिणामकारक गठबंधन के लिए मार्ग ढूँढने होंगे। ऐसे में जो उत्पन्न होता है वह एक ऐसी जीवन–संस्कृती या वातावरण होता है जो उसके संपर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति पर अपना विलक्षण प्रभाव छोड़ता है। अपने सर्वात्तम रुप में, यह संस्कृती अपने आप में ऐसा कुछ धारण किए होती है जो हर एक व्यक्ति द्वारा लायी गई चीजों के जोड़ से भी अधिक कुछ होता है – शायद हजार–हाथों वाले अवलोकितेश्वर जैसा ही कुछ।

बहुत से संघ सदस्य अपने रोज–मर्रा के जीवन में उन सारी बातों को एकत्रित लाने का अपना सर्वोत्कृष्ठ प्रयास करते है जिनकी वजह से वह अवलोकितेश्वर की भाँति संघ में योगदान देने के योग्य बने – फिर भी बेशक हम सब इससे भी अधिक बहुत कुछ कर सकते है। विभिन्न व्यक्तियों के पास विभिन्न संसाधन, परिस्थितीयाँ, चित्त–प्रवृत्तीयाँ, क्षमताए और अपनी विशेष चाहते (पसंद) होती है – जिसमें से हर बात अलग अलग प्रकार से धम्म–आचरण, धम्म–सेवा करने एवं धम्म–जीवन पद्धती की ओर अग्रसर होती है। यह विभिन्नता मौल्यवान होते हुए भी, इसके परिणाम स्वरुप बिखराव उत्पन्न हो सकता है, विशेषतः संघ के भौगोलिक विस्तार एवं संख्या में वृद्धी के मद्देनजर, सभी के लिए धम्म की सामुहिक रुप से सेवा करने के भाव को जिवित रखना बहुत मुश्किल हो जाता है। बेशक, कुछ लोग संघ में इतना डूब चूके है कि चाहे वे अक्सर अन्य संघ–सदस्यों के साथ एकत्रित आते हो या ना हो, उनका संघ में सहभागित्व का अहसास कभी कम नहीं होता। परंतु अधिकतर लोगों को अन्य सदस्यों के साथ जिनका ध्येय उन्हीं के समान है, प्रत्यक्ष संपर्क की आवश्यकता होती है, अगर वे धम्म की समुहिक सेवा के अहसास को जीवित रखना चाहते हो तो।

इसी कारणवश संघ के संघ–सदस्यों (धम्मचारी गण) को दलों के मध्य नियमित संपर्क–माध्यमों की आवश्यकता होती है – समय समय पर सारे संघ–सदस्यों के मध्य या कम से कम उतने जितने एकत्रित आ सकते है अथवा आने का प्रयास करेंगे। हम धम्म की सामुहिक सेवा करने के अहसास को सशक्त करने हेतु एकत्रित होते है – ताकि हम संघ के अवलोकितेश्वर के साकार स्वरुप होने की संभावना को यथार्थ होने का पूरा पूरा अवसर प्रदान कर सके। संघ की चॅप्टर–मिटिंग, ऑर्डर–डे, ऑर्डर–विकेंड, शिविरों एवं परिषदों की मूलभूत संरचना (संकल्पना) के पिछे यही विशेष रुप से महत्वपूर्ण उद्देश्य है। स्थानिक, प्रादेशिक या आंतरराष्ट्रीय ऑर्डर (धम्मचारी) एवं चॅप्टर (कुल) संघटकों का यहीं उद्देश्य है : कि वे इस संरचना को जीवित एवं सशक्त रखें। उनकी एक दूसरे के साथ नियमित सभायें, उस एक समान उद्देश्य के प्रति एकवाक्यता के अहसास को जिवित रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

संलग्नता के इस ढाँचे के बावजूद भी, कुछ अन्य तत्वों के आभाव में एकत्रित सेवा के इस अहसास को गहराना एवं जीवित रखना काफी मुश्किल हो सकता है। संघ–सदस्यों का दैनंदिन जीवन अपने अन्य भाई–बहनों के जीवन से जितना जुदा होगा उतना ही उपरी तौर का उनका धम्म की सामुहिक रुप से सेवा करने का अहसास होगा, फिर भले ही वे समय समय पर एकत्रित भी आते हो। बेशक, यह व्यक्ति के निजी स्वभाव एवं परिस्थिती और साथ ही उसकी प्रतिज्ञाबद्धता तथा समझ की गहराई पर भी अवलंबीत होता है। कुछ लोग, वास्तव में, शारिरीक रुप से औरों से दूर हो सकते है, और फिर भी ऐसा

महसूस कर सकते है जैसे कि वे संघ के मध्य ही हो; बहुत, शायद अधिकतर लोग ऐसा नहीं कर सकते।

जब अधिकतर संघ–सदस्य बार बार एकत्रित नहीं आते ऐसे में जो कठिनाईयाँ सामने आती है उन्हें भारत में स्पष्ट रुप से देखा जा सकता है, जहाँ लगभग सभी विवाहित है, परिवार के साथ तथा नियमित काम–काज़ (नौकरी) करने वाले है, वह भी अत्यंत तणाव भरी परिस्थितियों में। उनकी प्रभावित करने वाली प्रामाणिकता एवं श्रद्धा के बावजूद उनके रोज मर्रा के जीवन में उनके लिए इस अहसास को जिवित रखना संघर्षपूर्ण है कि वे सामुहिक रुप से धम्म–सेवा करने वाले आध्यात्मिक समुह में सहभागी है – बावजूद इसके कि अपने गुरू और संघ पर उनकी इस कदर श्रद्धा है कि जिस पर सवाल नहीं उठाया जा सकता है, परंतु अगर वे लाभ लेना चाहे तो परिस्थितियाँ कहीं अधिक उनके पक्ष में है।

और भी किसी चीज की आवश्यकता है। ऐसा लगता है कि, अगर पर्याप्त संख्या में ऐसे सदस्य हो जो रोज एकत्रित आते हो, साथ रहते एवं कार्य करते हो, तो संघ के संपूर्ण ढाँचे के लिए सामुहिक सेवा के अहसास को जिवित रखना संभव हो सकता है। जहाँ कुलों, साझे प्रकल्पों और विभिन्न प्रकार के आपसी संबंधो में संघ–सदस्य उचित आधार पर एकत्रित आते है, वहाँ एक ऐसी तीव्रता का निर्माण किया जा सकता है, जो संपूर्ण संघ को प्रभावित कर सकती है। जो एकत्रित जीवन पद्धती का अवलंब करते है उनका अपना फायदा तो होता ही है परंतु वे अपने से अधिक सब को योगदान देते है। अपने संबंधो द्वारा वे एक सामाजिक क्षेत्र या संस्कृती का निर्माण करते है जो अपनी बात अन्य संघ–सदस्यों से कहती है – और वास्तव में अधिक विस्तृत जगत से।

इसी कारणवश संघरक्षित अभी भी उसी जीवन पद्धती की जोरदार सिफारिश करते है जिसकी की वो हमेशा ही करते आये है : स्त्री अथवा पुरूषों के विभक्त कुलों में निवास करना, सामुहिक सम्यक आजिविका के व्यवसायों में काम करना, धम्म केंद्रो में सहायता प्रदान करना, सेवा–वेतन के स्थान पर अनुदान लेना, अगर पहले ही से पारिवारिक जिम्मेदारियाँ ना हो तो एसी जिम्मेदारियों के संचय से दूर रहना, और अपनी यौन क्रिड़ाओं को अपनी जीवन पद्धती में केंद्रीय होने की अनुमती ना देना।

बेशक यह सिफारिश वह इस बात को कबूल करते हुए करते है कि सारी या किसी भी प्रकार की 'अर्ध–विहारवासीय' व्यवस्था से अपने आप को जोड़े बिना भी धम्म का परिणामकारक रुप से आचरण किया जा सकता है। यह बात भी जिक्र करने योग्य है कि, उदाहरण के रुप में, केवल विभक्त कुलों में निवास करना ही पर्याप्त नहीं है। कई बार ऐसा प्रतित होता है कि उस प्रकार से धम्म का आचरण एवं सेवा करते हुए जीवन व्यतीत करने के सरल तथ्य कुछ लोगों ने जान लिया है। काफी संख्या में कुल कम अधिक मात्रा में साझे निवासस्थान की शक्ल में ही कार्यरत है, या फिर विद्यार्थीयों के कमरों की शक्ल में हालाँकि कभी कभी यह बुजुर्ग विद्यार्थीयों के कब्जे में होते! वहाँ आपस में बहुत ही कम गहरा एवं परिणामकारक गठबंधन होता है और उससे भी कम होता है धम्म के लिए दिया जाने वाला विस्तृत योगदान – जब कि कुछ लोग जिनके उपर भारी पारिवारिक दायित्व एवं जिम्मेदारी वाली नौकरियाँ है, वे अपने धम्म–आचरण में स्फूर्ति के साथ प्रयत्न कर रहे है, सक्रिय रुप से धम्म–कार्य कर रहे है एवं संघ के जीवन में भी पूर्ण सहभाग दे रहे है। जीवन पद्धती का चुनाव हमारे लिए अवसर प्रदान कर सकता है – परंतु अवसर को लिया जाना चाहिए।

फिर भी, सारे संभावित अपवादों को विचार में लेने के पश्चात संघरक्षित अब भी यही मानते है कि अधिकतर लोगों के लिए धम्म में विकास करने हेतु 'अर्ध–विहारवासीय' जीवन पद्धती ही स्वतंत्रता एवं अवसरों का सर्वोत्तम संतुलन प्रदान करती है। आगे, वह यह भी शिक्षा देते है कि एक समाज को अपने संपूर्ण स्वरुप में पर्याप्त लोगों की आवश्यकता होती है जो उतनी ही तीव्रता के साथ एकत्रित रहते तथा

कार्य करते हो कि जिससे वह क्षेत्र या संस्कृती जीवित रह सके जो धम्म की चेतना के रंग से रंगी हुई हो।

नव समाज

अपनी सर्वोत्तम अवस्था में, ऐसा क्षेत्र या संस्कृती ऐसे वातावरण या उर्जा से भी व्याप्त होती है जो उससे संबंधित हर व्यक्ति की उर्जा के जोड़ से अधिक होती है। समय समय पर, ऐसा हुआ है, मेरे अपने अनुभव में, इतने वर्षो के कालखंड में, विभिन्न परिस्थितियों में – वास्तव में इसकी पुनरावृत्ती में अधिक अंतराल के बिना। अक्सर नेतृत्व करने वालों में तथा अन्य लोगों में इस नाजूक एकजूटता को कुछ माह या सप्ताह अथवा कुछ दिनों या चंद मिनिटों तक भी बनाये रखने की परिपक्वता नहीं होती थी – परंतु कुछ समय के लिए ही सही वह वातावरण वहाँ था, जैसे कि उस 'सुंदर इंद्रधनुष्यी गेंद' का धरती पर आना जिसे रुपकात्मक रुप से संघरक्षित ने हवा में मंडराँते हुए देखा था जब वह अपने सबसे पहले धम्म–कार्य की शुरूवात करने वाले थे।[23] ऐसी परिस्थितियों में कुछ समय के पश्चात वह नाजूक संतुलन खो जाता है और या तो वह संस्था असफल हो जाती है या फिर, तात्कालिक समय के लिए, किसी कम आदर्शवत स्वरुप में उसका रुपांतरण हो जाता है।

परंतु, आंदोलन में, ऐसी भी कुछ परिस्थितियाँ है जिनमें परिपक्वता आ चुकी है और वह उस नाजूक एकजूटता को अधिक समय तक जिवित रखने में सक्षम है जिस कारण संबंधित व्यक्तियों के दायरों से परे के किसी उच्चतम के अहसास की अनुभूती का भाव कभी भी दूर नहीं होता। यु. के. (युनाय्टेड किंगडम) और भारत में ऐसी अनेक परिस्थितियों से मै प्रत्यक्ष रुप से अवगत हूँ – और बेशक अन्यत्र और भी होंगी जिनके बारे में मुझे ज्ञान नहीं है।

इन सारी परिस्थितीयों में विस्तृत श्रेणी के अनेक तत्व है जिन्हें अलग अलग करके देखा जा सकता है, जैसे कि स्थैर्य का अनुपात एवं एकत्रित अनुभव, सुयोग्य संचालन एवं परिणामकारक आर्थिक व्यवस्थापन तथा ऐसा नेतृत्व जो विस्तृत सहभागित्व का नेतृत्व करने के साथ ही धम्म की दिशा को बनाये रखने में सक्षम हो। उन सब में एक विलक्षण रुप से दिखाई देने वाली बात यह है कि उसके केंद्रस्थान में ऐसे लोग होते है जिनका आपस में बहुत ही सक्रिय एवं गहरा संपर्क होता है – और यहाँ संपर्क का अर्थ है रोज आमने सामने होने वाला संपर्क। लगभग हमेशा ही यह केंद्रीय लोग ऐसे प्रकल्प पर कार्य कर रहे होंगे जो कि धम्म की सेवा में हो, जितना यह प्रत्यक्ष रुप से हो उतना ही बेहतर। अक्सर इन में से अधिकतर लोग कुलों में एकत्रित रहते होंगे, फिर सभी या तो एक ही कुल में निवास करते हो अथवा ऐसे अनेक कुलों में जहाँ इन कुल–सदस्यों का आपस में काफी संपर्क होता हो।

एक बार इस प्रकार के वातावरण के स्थित होने के उपरांत, अन्य लोग जो उसके साथ निकटता से जुडे हुए नहीं है वह भी उसमें तत्परता से सहभागी हो सकते है एवं अपना योगदान दे सकते है। जिनका उसके साथ बहुत ही थोड़ा संपर्क है उन लोगों के लिए भी यह संभव हो सकता है कि वह अपने आपको उसी का हिस्सा महसूस करे चाहे फिर उनके संबंधो की मध्यस्थी पत्रव्यवहार ने की हो, सामाजिक संबंधो के जाल (social networks) ने की हो अथवा अन्य किसी काल्पनिक साधन ने की हो। परंतु यह सब संभव होने के लिए, लोगो के केंद्रीय दल के होने की आवश्यकता होती है जो सशक्त एवं परिणामकारक स्वरुप से एकत्रित रहते एवं कार्य करते हो।

यही वह संस्कृती है, तीव्रता से अपने जीवन एवं कार्यो को बाँटते हुए संघ–सदस्यों के घेरे के चारों ओर जमा होना, जिसे संघरक्षित ने 'नव समाज' कहा है। आजकल अधिकतर 'नव समाज' इस शब्द के

23

इस्माल से परहेज़ किया जाता है, फिर भी ऐसा लगता है कि अगर हम वास्तव में अपने ध्येय की पूर्ति करना चाहते है तो इस शब्द के पिछे की कल्पना उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी की हमेशा ही रहीं है। भले ही उनकी आवश्यकता हो, परंतु यह मात्र संस्थाओं का संच नहीं है, बल्कि एक ऐसा तीव्र वातावरण है जो ऐसे सामुहिक प्रयत्नों से निर्मित होता है जिनमें हमे हमारे व्यक्तिगत दायरों से परे ले जाने वाली चीज की चिंगारी हो सकती हो सकती है। नव समाज ऐसा है, जैसे कि वह, धम्म की सामुहिक सेवा द्वारा निर्मित उर्जा–क्षेत्र हो। वह ऐसा कुछ है जिसे प्रत्यक्ष रुप से महसूस किया जा सकता है और उसके संपर्क में आने वाले कई लोगों के लिए वह शक्तिशाली रुप से आकर्षक होता है, वह उन्हें उस चीज की प्रत्यक्ष झलक देता है जिसकी तलाश उन्हें होती है। ऐसा कहा जा सकता है कि, नव समाज एक ठोस अभिव्यक्ति है, उसकी, जिसने त्रिरत्न बौद्ध महासंघ एवं इस आंदोलन की स्थापना की थी – जो संघरक्षित को इस तरह प्रतित हुई थी मानो वह कोई 'परा–व्यक्तिगत उर्जा या शक्ति' हो जो उनके माध्यम से कार्यान्वित थी। और नव समाज उन प्रमुख साधनों में से एक है जिसके माध्यम से वह उर्जा या शक्ति जिवित रहती है और अन्य कई लोगों को स्पर्श करने हेतु आगे बढ़ती है।

सारांश

इस लेख में, जिस प्रकार हाल ही में प्रकाशित पिछले लेखों की ही तरह, मैने उन प्रमुख मुद्दों को एकत्रित लाने का प्रयास किया जो पिछले तीन वर्षों में मेरी संघरक्षित के साथ हुई चर्चाओं के दौरान उपस्थित हुए है। यहाँ जिसकी चर्चा की गई है उसका कुछ भाग मैने संघरक्षित ने मुझसे जिस विषय में बात की उससे प्रत्यक्ष रुप से लिया है और कुछ हमारी बाद में हुई चर्चाओं में उत्पन्न हुआ है। हमेशा की ही तरह, मैने जो कुछ भी लिखा वह उन्हें दिखलाया और वह इस बात की पुष्टी करते है कि मैनें उनकी बातों का झूठा बयान नहीं दिया है और उनकी कहीं हुई बातों का जो कुछ भी विस्तृतीकरण मैनें किया है वह उनकी अपनी समझ के साथ सुसंगत है।

मेरे अपने तरिके से मैनें यहाँ उस बात को पहुँचाने का प्रयास किया है, जो मुझे मेरे उनके साथ हुए संभाषण से प्राप्त हुई, जो व्यक्तिगत रुप से मेरे लिए असाधारण महत्व की है। एक तरह से, हालाँकि हमारी चर्चाओं में किसी भी नई बात का उदय नहीं हुआ है : जिन विषयों को हमने स्पर्श किया है उनमें से अधिकतर का मूलस्त्रोत, मैं उनके आरंभिक लेखन एवं प्रवचनों तथा विशेष रुप से उनके सेमिनार (अभ्यास–सत्र) में खोज सकता हूँ – फिर भी मेरा ऐसा मानना है कि जिन मूल तत्वों पर उनका इतना गहरा विश्वास है वह तत्व उन्होंने इतने स्पष्ट तथा निसंदिग्ध रुप से व्यक्त किए है जितने इससे पूर्व शायद ही किए हो। परंतु मैनें धम्म के विषय में मेरी अपनी समझ के साथ नई एवं कई गुणा अधिक गहरी एकात्मता महसूस की, जो केवल संघरक्षित के शब्दों से ही नहीं आयी है बल्कि उस बुद्धी (दिमाग/मन) से आयी है जिसे वे शब्द अभिव्यक्त करते है। और इसी को पहुँचाने के लिए मैं जो कर सकता हूँ वहीं मै कर रहा हूँ।

इस अवसर पर, त्रिरत्न बौद्ध महासंघ एवं आंदोलन के व्यवहारिक प्रकट रुप में आने से संबंधित संघरक्षित की दृष्टी की एकात्मता को पहुँचाने का अपना सबसे बेहतर प्रदर्शन मैनें किया है। उनके अपने जीवन में, उस अनुभव के स्वभाव जो व्यक्तिगत से परे ले जाता है, कर्म और धर्म नियम के संदर्भ में धम्म की जो उनकी समझ है उसमें, धम्म को जीवन एवं आचरण में लाने के सर्वोतम मार्ग में तथा हमारे आंदोलन की संस्कृती एवं संस्थाओं में एक सदृश समानता है। अगर हम इस एकात्मता का पूर्णत उचित मूल्य आँक पाए तो, मेरा ऐसा विश्वास है, इस तरह जी पायेंगे की धर्म–नियम प्रक्रियाँए उत्पन्न हो सकेंगी।

जिन मुद्दों पर मै संघरक्षित के साथ चर्चा कर रहा था वह मेरे अपने एक गहराते हुए अनुभव से जुड़ी थी। एक अत्यंत उच्च रुप से व्यक्तिगत, जिसे आत्म–केंद्रीत नहीं कहा जा सकता, के प्रती मै समय समय पर और अधिक स्पष्टता से जागृत हो रहा था, जो कि उसी के समांतर प्रकट हो रहा था जो व्यक्तिगत दायरों के पार का होता है – दोनों साथ साथ प्रकट हो रहे थे आजू–बाजू, एकदम एक ही समय पर। उदाहरण के तौर पर, मैं अपने एक मित्र के साथ बैठा था उसकी आत्म–केंद्रीत प्रतिक्रियाओं को बर्दाश्त करते हुए जिसके की हम सब भी आदी होते है और उसी वक्त मै चेतन था, मै नहीं जानता कैसे, किसी ऐसी चीज के प्रती जो बहुत उच्च, कुछ विस्तीर्ण, शायद असीम भी थी, ऐसा लग रहा था कि वह विशेष रुप से उसमें उपस्थित है – जैसे कि सूरज की चकाचौंध कर देने वाली रोशनी किसी बुरी तरह से बनायी गई दिवार की दरारों को भेदते हुए चमचमा रही हो। मैं केवल इतना कह सकता हूँ कि जैसे उस असीम (अमर्याद) चीज का स्वभाव ही है कि जब उनका आवाहन किया जाए, तो वह फूटकर अपने को अभिव्यक्त करती है, परंतु हमारे तुच्छ व्यक्तिमत्व का स्वभाव होता है उसी का विरोध करना जिसे हमने स्वयं निमंत्रित किया हो।

स्वाभाविक ही, इस ध्रुवीकरण को यकीनन मैनें मेरे भीतर भी महसूस किया है : कभी ध्यान में, कभी शांत बैठे हुए, कुछ ना करते हुए, कभी बहुत बड़ी भारतीय भीड़ के समक्ष प्रवचन देते समय उसी के मध्य में, कभी उदासी, संभ्रम या हताशा के गहरे साये में – ऐसा लगता है कि वह बिना रोक टोक किसी भी परिस्थिती में आ सकता है। ऐसे समय में 'सुभूतीमय' व्यक्तिगत आदतों और प्रतिक्रियाओं का विचित्र गड्डर बेहद तुच्छ और हास्यास्पद भी प्रतीत होता है, जिसे इस प्रकार देखा जाना चाहिए जैसे हंगेरी के विलक्षण उपन्यासकार, ॲनताल स्झर्ब, इस तरह से बयान करते है, 'रक्षात्मक कोमलता और सौम्य उपरोध के संदर्भ में'।[24] इससे बुद्ध में और उनके धम्म में जो मेरा विश्वास है उसमें और अधिक वृद्धी होती है, तथा मेरे गुरू में और धम्म के उनके प्रस्तुत करने के ढंग में। मेरा धम्म–आचरण, ऐसा प्रतित हो सकता है कि, परा–व्यक्तिगत की ओर है।

परंतु सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि विगत कुछ वर्षों में त्रिरत्न बौद्ध महासंघ एवं इस आंदोलन की जिन परिस्थितीयों का मैनें अनुभव लिया है उनमें मैने अधिक से अधिक ध्रुवीकरण को महसूस किया है – जहाँ तक मेरा सवाल है, मेरा तात्पर्य प्रमुख रुप से भारत तथा यु.के. के अनुभव से है। कोई भी आसानी से दोनों में ही कई खामियाँ और समस्याए निकाल कर बता सकता है – और निश्चित तौर पर यह हमारा कर्तव्य है कि हम उन्हें स्वीकार करे और उनका समाधान भी करे। परंतु कोई अन्य बात भी चमक रही है, मैने महसूस किया है, और बढ़ती तीव्रता से चमक रही है, बहुत सी जगहों पर और बहुत से अवसरों पर।

यह मेरा अनुभव है, परंतु यह नहीं लगता कि हर कोई इससे सहमत है। हम अपने आपको किसी ऐसे व्यक्ति के साथ संभाषण करते हुए पा सकते है जो इस बात पर अंगुली उठाा रहा हो कि यह गलत हुआ है और वह सही नहीं हुआ – और आप सिर्फ उस बात से सहमत हो सकते है। और फिर भी उस सारे समय कोई अपने आप में यह महसूस कर सकता है कि कुछ और भी है जो वहाँ उपस्थित है। बिल्कुल उसी तरह जैसे कि सूर्यास्त के समय आप दोनों ही तहस नहस हो चुके एक औद्योगिक भूखंड की ओर देख रहे है और जब वह उसकी कुरूपता और उदासहीनता के विषय में बात कर रहा हो, आप देख सकते है कि धुंधलाता हुआ प्रकाश हर आकार को सुनहरा वर्क़ चढ़े हुए एक रहस्य में परिवर्तित कर रहा है, जिसके उपर हर दिशा में अग्नी का आकाश फैला हुआ है। कोई भी उसे बता नहीं सकता या उसे उसके उदासहीन चिंतन से झंझोड कर अलग नहीं कर सकता। अगर कोई कोशिश भी करता है तो उसकी बातों को नजरअंदाज कर दिया जाता है जैसे कि वह उन्हीं लोगों मे से एक है

24

जो चीजों की गंदगी (मलीनता/कुरूपता) को देखना अस्वीकार करते है। इसलिए आप सिर्फ आश्चर्य से भर कर उस बात को निहार सकते है जिसे केवल आप ही की आँखे देख पा रही है।

सुदैव से, जो देख रही है ऐसी और आँखे भी है। हमारे संघ में और आंदोलन में अन्य कई लोग है जो सचमुच यह महसूस करते है कि हमारी अहंयुक्त इच्छाओं से भी अधिक कुछ है जो कार्यरत है। संक्षेप में, मै इस बात से आश्वस्त हूँ कि त्रिरत्न बौद्ध महासंघ वाकई, कुछ हद तक ही क्यों ना हो, हजार हाथों, ग्यारह–सिरों वाले अवलोकितेश्वर का प्रत्यक्ष रुप है जैसे कि संघरक्षित सिखाते है वह बन सकता है। मुझे यकिन है, मेरे अपने अनुभव से, कि बोधिचित्त, अगर हम उसे ऐसा कहे तो, हम सब के बीच कार्यरत है और यह आंदोलन कुछ हद तक उसी का साकार रुप है। संघरक्षित के माध्यम से इसकी स्थापना उसने की जो कि उन्हें महसूस हुआ कि जैसे वह एक परा–व्यक्तिगत उर्जा या शक्ति है और वह अभी भी त्रिरत्न बौद्ध महासंघ एवं इस आंदोलन के माध्यम से कार्यान्वित है जो उसी के कारण स्थापित हुआ था। यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण है कि हम एकत्रित रुप से कार्य करें ताकि हम इन धर्म–नियम प्रक्रियाओं का हमारे बीच प्रवाहित होना जारी रख सके।

मेरे सुझाव में, इसी तरह से हमें हमारे प्रमुख ध्येय एवं प्रयासों के विषय में बात करनी चाहिए। मेरा ऐसा मानना है कि अपनी व्यक्तिगत स्त्रोतापन्न अवस्था की प्राप्ती हो या फिर चाहे किसी और का उस अवस्था को प्राप्त करना हो, उसके विषय में बात करते रहने से जरा भी लाभ नहीं होता, वह बहुत ही आसानी से अहंमन्यता का स्त्रोत बन जाता है, जो अक्सर बेहद भ्रामक होता है – और इसके प्राथमिक स्वरुप का मै स्वयं साक्षी रहा हूँ। इससे कहीं अधिक अच्छा हमारे लिए यह होगा कि हम इस प्रकार सोचे, व्यक्तिगत तथा सामुहिक रुप से भी, कि हम किस प्रकार से प्रयत्न करते रहे कि वह परिस्थितियाँ जिवित रह सके कि जिनके आधार पर वह जो कि परा–व्यक्तिगत चेतना की तरह प्रतीत होता है उसका इस दुनियाँ में हमारे संघ के माध्यम से कार्यरत रहना जारी रह सके। इस तरह से सोचना ही अपने आप में उन परिस्थितियों में से एक है कि जिसके आधार पर यह हो सकता है।

हमने संघरक्षित के स्वयं के जीवन और शिक्षाओं के आधार पर यह देखा है कि केवल व्यक्तिगत से परे जाने के भाव की उत्पत्ती के पिछे मूलतः परिस्थितियों के तीन विस्तृत संचों में हम भेद कर सकते है : तीव्र धम्म–आचरण, अन्य लोगों से नजदीकी संबंध रखकर प्रेरणापूर्वक की गई धम्म–सेवा, और जीवन–पद्धती जो अंतकरणपूर्वक धम्म को समर्पित हो। सबसे बढ़कर मेरी यह मनशा थी कि मै इसके सामुहिक विस्तार (आयाम) की ओर निर्देश करु। हमारी सामुहिक संस्थाए, प्रणालीयाँ तथा गतीविधियाँ केवल व्यक्तिगत आचरण से संबंधित नहीं है, इस वजह से क्योंकि वो हमारे धम्म की एकसाथ सेवा करने के सामुहिक भाव को सशक्त करने में सहायता करती है – ऑर्डर विकेंड में मेरी उपस्थिती औरों में इस भाव को सशक्त करती है, मेरे अपने लिए चाहे वो जो भी करे। ऑर्डर विकेंड को इसी चेतना से लिया जाना तथा उनमें सहभागी होना आवश्यक है अगर हम यह चाहते है कि संघ हजार हाथों वाले अवलोकितेश्वर का साकार रुप होने का प्रतिनिधित्व करता रहे।

जीवन–पद्धती का इस दृष्टीकोण से भी विचार करना हमारे लिए आवश्यक है। प्रश्न केवल उस जीवन–पद्धती का चुनाव करने का नहीं है जो व्यक्ति को सहज लगती हो, जैसे कोई नाश्ते के लिए इस या उस खाद्य पदार्थ का चुनाव करता है, उससे भी अधिक जैसे वह उन्हें किसी सुपर मार्केट की अलमारी की ताक पर रखी हुई चीजों में से चुनता है – यद्यपि इसमें कोई शक नहीं कि व्यक्तिगत चुनाव को भी अपनी भूमिका निभानी चाहिए। व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह इस बात को पहचाने कि वह जिस प्रकार से जीवन व्यतीत करता है उससे वह थोड़ी या अधिक मात्रा में संघ के जीवन–काल में योगदान देता है और इस प्रकार उस परा–व्यक्तिगत उर्जा या शक्ति के संघ के माध्यम से निरंतर कार्यान्वित रहने में भी जिसे संघरक्षित ने इस प्रकार महसूस किया था कि उस उर्जा ने उनके

माध्यम से कार्यान्वित होकर संघ की स्थापना की थी। जब तक कि हम में से पर्याप्त संख्या में लोग अन्य संघ–सदस्यों के साथ दैनंदिन स्वरुप में रहते एवं कार्य करते हुए आपस में अपना जीवन नहीं बाँटते तब तक धम्म की सामुहिक रुप से की गई सेवा के भाव को जिवित रखना बहुत कठीन है। कुलों में रहने एवं धम्म की सेवा करने वाले प्रकल्प में सहभाग देने वाले सदस्यों को उन्हें मिलने वाले व्यक्तिगत लाभ के अलावा, ऐसा करने से वे उन परिस्थितियों को जिवित रखने में महत्वपूर्ण योगदान दे सकते है जो परिस्थितियाँ धम्म के सामर्थ्य को प्रवाहित होने के लिए आवश्यक साधन बने रहने के लिए अनिवार्य है – अर्थात हम यह मानकर चल रहे है कि, निश्चित रुप से, यह कुल एवं प्रकल्प वास्तव में धम्म–आचरण तथा धम्म–सेवा करने पर आधारित है।

आशा करता हूँ कि यह बात स्पष्ट हो चुकी होगी कि मैनें जो कुछ लिखा है वह लोगों से उन नियमबद्ध ग्राह्य समझे जाने वाले तत्वों की ओर लौटने की याचना नहीं है, जिनके विषय में लोगों को लगता है कि उन्हें अपनाने का उनपर दबाव है। व्यक्ति का परिक्षण उसके प्रयत्नों के आधार पर होना चाहिए, ना कि उनकी जीवन पद्धती के आधार पर। हम में से हर एक को हमारी परिस्थितीयों के साथ कार्य करना होता है, बाह्य एवं आंतरिक भी, और उस आरंभिक बिंदु से त्रिरत्नों को शरण–गमण करने का अपना सर्वोत्तम प्रयास करना होता है। मैनें यहाँ जो दिखाने की कोशीश की है वह यह है कि हम हमारे धम्म के ध्येय को बहुत अच्छी तरह से हासील कर सकते है, जो कि हमारी आत्म–आसक्ति से परे जाने के अलावा और कुछ हो ही नहीं सकता, अगर हम सामुहिक रुप से धम्म की सेवा करें – और इसका अर्थ है अपनी जीवन–पद्धती को इस तरह से आकारबद्ध करना जिससें हम अपने जीवन का अधिकतर समय जितना संभव हो सकता हो उतना एक दूसरें के सहवास में बिता सके। तब हम आपस में एक दूजे के साथ धम्म की सेवा करने की अनुमती के भाव को महसूस कर सकेंगे। तद्नुसार जो करने की आवश्यकता होगी वह हम कर पायेंगे, हमारे अपने लिए भी और विश्व की भलाई के लिए भी, क्योंकि वह परा–व्यक्तिगत उर्जा या शक्ति संघ के माध्यम से इतनी उत्स्फूर्ती से कार्यान्वित होगी जितनी कि पहले कभी नहीं थी।